नवयुग की माँग

•

धीरेन्द्र मजूमदार

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

बिहार के दरभंगा जिले का ग्रामदान फरवरी सन् १९६७ में हुआ। यह भारत के इतिहास में तथा भूदान-ग्रामदान-आन्दोलन के सोलह वर्षों के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना मानी जायगी। इस घटना ने श्री धीरेन्द्रभाई मजूमदार जैसे वयोवृद्ध और तेजस्वी व्यक्ति को दरभंगा जिले को अपना कार्यक्षेत्र बनाने की प्रेरणा दी। श्री धीरेन्द्रभाई नित्य नयी तालीम के स्वयभू शिक्षक के नाते अपने साथियों और इर्द-गिर्द के ग्रामवासियों के साथ निरन्तर गपशप के माध्यम से चिन्तन, मनन और विचार-शोधन करते रहते हैं। लोक-शिक्षण का यही उनका खास तरीका है। धीरेन 'दा शारीरिक दृष्टि से व्याधिग्रस्त हैं, लेकिन उनका मानसिक उत्साह तरुणों के लए चेतावनी ही है।

जिलादान के बाद श्री धीरेन्द्रभाई ने डेढ़-दो महीने तक दरभंगा जिले के गांवों की यात्रा की, जगह-जगह लोगों से चर्चा की, ग्रामदान करने में लोगों की क्या प्रेरणा रही, ग्रामदान-विचार को वे कितना समझे हैं, इसका निरीक्षण किया तथा ग्रामदान के बाद गांव के लोगों को क्या करना है, इसका भी दिशा-दर्शन वे करते जाते थे। अपने निरीक्षण की चर्चा श्री धीरेन्द्रभाई ने विनोबाजी के साथ भी की। उस चर्चा का और गांववालों के सामने रखे विचारों का सार-सर्वस्व तथा विश्लेषण इस पुस्तिका के रूप में ग्रामदानी गांवों के लोगों, कार्यकर्ताओं और अन्य पाठकों के लिए उपयोगी समझकर प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, यह पुस्तिका प्रेरक और मार्गदर्शक सिद्ध होगी।

●

अनुक्रम

१. नवयुग की माँग ५

२. नयी क्रान्ति के लिए

नया वाहन और नया संगठन ३३

३. प्रश्नोत्तर ४३

परिशिष्ट :

लोक-शिक्षक समाज का संकल्प-पत्र ७१

नवयुग की माँग

आपके इस दरभंगा जिले में आज चारों ओर ग्रामदान की चर्चा है। कोई अनुकूल है, तो कोई विरोध में दलील पेश करता है। लेकिन कोई उससे अपने को उदासीन नहीं रख पा रहा है। अर्थात् ग्रामदान का विचार आज पूरे समाज को आलोड़ित कर रहा है। जब कभी कोई नया विचार व्यापक जन-आन्दोलन का रूप लेता है, तो समझना यह चाहिए कि वह आन्दोलन कोई चला नहीं रहा, वरन् चल रहा है। उसे चलाने-वाला एकमात्र काल-पुरुष है और बाकी सब निमित्त हैं।

इस बात को समझने के लिए काल की गति के स्वरूप को समझना होगा। काल निरन्तर गतिशील होता है और लोक-मानस हमेशा रक्षणशील रहता है। वह अपनी पूर्व-स्थिति से डोलना नहीं चाहता, न ही वह आगे बढ़कर अनिश्चितता का खतरा उठाना चाहता है। बल्कि काल के आगे बढ़ जाने से परिस्थितियों के परिवर्तन के बावजूद लोक पुरानी स्थिति से ही चिपका रहता है।

बदली हुई परिस्थितियों में समाज की पुरानी पद्धतियाँ, प्रथाएँ एवं परम्पराएँ, पुराने मूल्य और मान्यताएँ बासी हो जाती हैं। शुरू-शुरू में बासी होने के बावजूद समाज उनके सहारे कुछ शान्ति से चल जाता है, लेकिन अधिक दिनों तक उसी स्थिति में नहीं चल पाता। लोग बचपन में बासी रोटी

खाकर स्कूल जाते हैं, उसे चवा भी लेते है। कोई चाहे तो उस वासी रोटी को शाम तक भी खा सकता है, लेकिन अधिक वासी होकर जब सड़ने लगती है तो खाने पर पच नहीं पाती और पेट में पीड़ा होती है। उसी तरह वासी प्रथाएँ, पद्धतियाँ तथा मान्यताएँ जब अधिक पुरानी होकर सड़ने लगती हैं तो समाज संकट का शिकार बनकर मरने लगता है।

काल-पुरुष सृष्टि को मरने नहीं देता, इसलिए वह लोक-प्रवाह को खींचकर अपने साथ कर लेता है। वह मनुष्य को पुरानी प्रथाओं तथा पद्धतियों से मुक्ति के लिए क्रान्ति की राह पर खड़ा कर देता है।

आज जिस ग्राम-स्वराज्य की क्रान्ति का आलोड़न देख रहे हैं, वह जमाने की इसी माँग का परिचायक है। अतः आपको सोचना होगा—विचार करना होगा कि जमाने की किन-किन परिस्थितियों और समस्याओं के कारण ग्रामदान-आन्दोलन आवश्यक हो गया है, अनिवार्य हो गया है।

जब आप परिस्थितियों एवं समस्याओं पर विचार करेंगे तो केवल देश की स्थिति पर ही सोचना काफी नहीं होगा। दुनिया की मूल समस्याओं पर भी विचार करना होगा। आज विश्व का समस्त मानव-समाज परेशान है—छटपटा रहा है। कोई भी देश ऐसा नहीं बचा है, जो अन्तर्विरोध का शिकार न हो। केवल अन्तर्विरोध ही नहीं, बल्कि विश्व के करीब-करीब सभी राष्ट्र परस्पर विरोध के शिकार हैं। आज जब कि पूरी दुनिया की ऐसी स्थिति है तो समझना चाहिए कि संसार

में उत्कट निराशा छायी हुई है। इसका एकमात्र कारण यह है कि आज का जमाना पूरे मानव-समाज के अस्तित्व को ही चुनौती दे रहा है; अर्थात् आज विश्व के लिए मुख्य सवाल जिन्दा रहने की समस्या है।

विज्ञान की इस चरम प्रगति के युग में यदि इन्सान को जिन्दा रहना है, तो समाज की पुरानी मान्यताओं, कल्पनाओं तथा पद्धतियों में आमूल परिवर्तन करना होगा, और अब यह बात धीरे-धीरे सभी को मान्य भी हो रही है।

पुरानी मान्यताओं को देखिये। मनुष्य स्वभावतः उन्नति का आकांक्षी है। प्राचीन काल से ही यह मान्यता रही है कि प्रतिद्वन्द्विता, स्पर्धा आदि उन्नति की सोपान हैं। इन्हीं तत्त्वों द्वारा मनुष्य को आत्मोन्नति की प्रेरणा मिलती रही है। दूसरी मान्यता यह रही है कि समाज में कुछ उलझन पैदा हो, तो द्वंद्व से, लड़ाई से उसका समाधान होगा। अन्याय के प्रतिकार में या अत्याचार के निराकरण के लिए द्वन्द्व-प्रक्रिया को समाज ने मान्य कर रखा था। जरासंध के अत्याचार के निराकरण के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने भी द्वन्द्व का ही मार्ग अपनाया था। केवल अन्याय, अत्याचार के निराकरण के लिए ही नहीं, बल्कि धर्म-संस्थापन के लिए भी युद्ध का शास्त्रीय आदेश था, चाहे वह हिन्दू-धर्म हो, इसलाम या ईसाई-धर्म। धर्म-युद्ध में, जिहाद में अथवा क्रूसेड के अवसर पर प्राण-त्याग करनेवालों के लिए सीधे स्वर्ग पहुँचने का द्वार खुला है, ऐसी मान्यता सभी धर्मों की रही है।

लेकिन इस वैज्ञानिक युग में द्वन्द्व या युद्ध के औजार इतने भयंकर हो गये हैं कि जमाना पुरानी मान्यताओं को छोड़ने के लिए बाध्य कर रहा है। संसार के सभी देशों के नेता तथा विचारक एक स्वर से नि:शस्त्रीकरण की बात कर रहे हैं। वे कोई अहिंसा के पुजारी नहीं, वरन् अति हिंसा के माननेवाले नेता हैं, किन्तु काल की चुनौती को वह भी कैसे इनकार कर सकते हैं। पिछले २२ वर्षों से लगातार विश्व के प्राय: सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधि युद्ध बन्द करने का उपाय खोजने की दृष्टि से अनेक सम्मेलन कर रहे हैं। आये दिन वे शस्त्र-त्याग का तरीका खोजने के लिए समितियों व कमीशनों का गठन करते रहते हैं। क्योंकि युद्ध-मुक्ति एवं नि:शस्त्रीकरण जमाने की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। वे जानते हैं कि अगर सम्पूर्ण नि:शस्त्रीकरण नहीं हुआ तो ये भयंकर अस्त्र-शस्त्र अनन्त काल तक गोदामों में बन्द पड़े नहीं रहेंगे। एक-न-एक दिन वे अपना स्वधर्म निभायेंगे ही। फिर तो विश्व-नाश अनिवार्य हो जायगा।

लेकिन यह सब जानते, समझते हुए भी किसीमें शस्त्र-त्याग का साहस नहीं है। वह इसलिए कि उनके पास शस्त्र का कोई विकल्प नहीं है। विकल्प के अभाव में पुरानी चीज को छोड़ने की हिम्मत न होना स्वाभाविक ही है। नाव पर बैठकर दरिया पार जानेवाला व्यक्ति जब देखता है कि उसकी नाव में छेद हो जाने से पानी भर रहा है और कुछ ही समय बाद वह डूबेगी, तब अगर उसको तैरना नहीं आता है तो वह नाव छोड़कर पानी में कूदने की हिम्मत नहीं कर सकता। वह बैठा-बैठा डूबेगा, लेकिन नाव नहीं छोड़ेगा। नि:शस्त्रीकरण

के प्रश्न पर आज संसारभर के लोगों की वही हालत है। संसार जानता है कि ये शस्त्र उसे भस्म कर देंगे, लेकिन विकल्प के अभाव में वह उन्हें छोड़ नहीं पा रहा है। ग्रामदान-आन्दोलन से विनोबा शस्त्र का विकल्प प्रस्तुत कर रहे हैं। दण्ड-शक्ति यानी शस्त्र-शक्ति के स्थान पर सम्मति और सहकार-शक्ति को समाज की गति-शक्ति तथा धृति-शक्ति के रूप में अधिष्ठित करने का प्रयास कर रहे हैं।

आज के मनुष्य ने यह समझ लिया है कि लड़ाई और दुनिया एक साथ नहीं चल सकती; अगर दुनिया को रखना है तो लड़ाई बन्द करनी ही होगी। लेकिन लन्दन, न्यूयार्क, मास्को या नयी दिल्ली में बैठकर सम्मेलन करने से लड़ाई बंद नहीं हो सकेगी। उसके लिए लड़ाई की जड खोजनी होगी और उसके कारणों को समाप्त करना होगा।

गहराई से देखने पर साफ मालूम हो जाता है कि गाँव के दो किसानों की जमीन के बीच जो पतली मेड़ यानी मेरा-तेरा की निशानी बनी रहती है, वही लडाई की असली जड़ है। वह मेड़ चाहे गाँवों के दो किसानों की जमीन के बीच की हो और चाहे दो राष्ट्रों के बीच की। लड़ाई की जड़ मेड़ ही है। विनोबा ग्रामदान के द्वारा गाँव की मेड़ तोड़ रहे हैं और जय जगत् के मंत्र द्वारा राष्ट्रों के बीच की मेड़ समाप्त करने का प्रयास कर रहे हैं।

मेरा-तेरा की आड़ मिटाने की जरूरत इसलिए भी है कि हर आदमी को अपनी-अपनी सुरक्षा चाहिए, जो पुराने तरीके

से अब मिल नहीं सकती है। आप लोग सम्पत्ति और जमीन की मालिकी क्यों रखते हैं? केवल मालिकी के शौक से नहीं, बल्कि उसे रखते हैं, अपनी सुरक्षा की गारण्टी के रूप में। वस्तुतः मनुष्य में संग्रह की वृत्ति सुरक्षा के लिए ही पैदा हुई थी। लेकिन जमाना बहुत आगे बढ़ जाने के कारण अब सुरक्षा के पुराने साधन से त्राण नहीं। जन-संख्या की अतिवृद्धि के कारण व्यक्ति के पास जमीन इतनी कम हो गयी है कि उसके सहारे जीवन की सुरक्षा की गारण्टी मिल सकती है;--इसकी कोई उम्मीद नहीं। यह हालत गाँव के ९५ प्रतिशत लोगों की है! बाकी ५ प्रतिशत के पास जो कुछ है, उसे ऊपर से देखने पर मालूम होगा कि वह अपने मालिक के लिए सुरक्षा का साधन है। लेकिन यदि आज की परिस्थितियों की छानबीन की जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उन पाँच प्रतिशत की वह मालिकी भी सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं दे सकती, अतः जमीन बेचकर या बंधक रखकर शादी, गमी या दूसरा आवश्यक काम हम कर लेंगे, ऐसा सोचना अब एक वहम ही है—यह समझना चाहिए। वह जाँते यानी चक्की के दो पाटों के बीच में पड़कर पिस जायगा। नीचे के ९५ प्रतिशत की आह और ऊपर के पूँजीवाद और नौकरशाही के दबाव में पड़कर चूर-चूर हो जायगा।

अब जब कि जमीन की मालिकी सुरक्षा का आधार नहीं रह गयी है और सुरक्षा सबको चाहिए ही, तब उसके विकल्प में सामाजिक सुरक्षा का संगठन करना आवश्यक है। जब आप संकल्पपूर्वक ग्रामदान की प्रक्रिया द्वारा ग्राम-

स्वराज्य की स्थापना कर लेंगे, तब वही स्वराज्य गाँवभर की सुरक्षा का आधार बनेगा।

अब देश की समस्याओं को लें। देश के नेता और समाजशास्त्री मुख्यतः तीन समस्याओं की बात करते हैं :

१. सुरक्षा की समस्या,
२. राष्ट्रीय विकास की समस्या,
३. लोकतन्त्र (स्वराज्य) की समस्या।

सुरक्षा की समस्या

इस युग में युद्ध-प्रणाली बदल गयी है। अब किसी मैदान में दो देशों की सेनाएँ आमने-सामने लड़ाई नहीं करती हैं। अब एक देश दूसरे मुल्क पर हमला करता है और लड़ाई दो मोर्चों पर होती है : एक जन-मोर्चा और दूसरा सैनिक-मोर्चा। इन दोनों में जन-मोर्चे का अधिक महत्त्व होता है। कोई मुल्क अगर किसी दूसरे मुल्क पर हमला करना चाहता है तो वह एकाएक फौज नहीं भेज देता। पहले जन-मोर्चे का संगठन करता है। दुश्मन के मुल्क में काफी संख्या में अपने देश के लोगों का अनुप्रवेश कराता है। ये लोग देश में स्थान-स्थान पर किसी-न-किसी बहाने जम जाते हैं। कोई दूकान खोलकर बैठता है, कोई जमीन खरीदकर बसता है तो कोई विकास-कार्यों का ठीका ले लेता है। अनुप्रवेश करनेवाले घुसपैठिये कहे जाते हैं। वे देश के लोगों को फोड़कर काफी संख्या में विभीषण बनाते हैं, जिसे सामरिक भाषा में पंचमांगी कहते हैं।

जब बाहर के घुसपैठियों तथा देश के पंचमांगियों का पूरा गठबंधन हो जाता है और वह मजबूत होता है, तो यह संगठन देश के अन्दर भेद-भाव फैलाकर आन्तरिक अशांति पैदा करता है, तोड-फोड के कार्यों का आयोजन कराने का प्रयत्न करता है। वह इस प्रकार विस्फोटक स्थिति पैदा करता है, ताकि सैनिक आक्रमण के समय जनता साहसहीन, हिम्मतपस्त हो जाय, उसका मनोबल गिर जाय। किसी मुल्क की जनता अगर हिम्मतपस्त हो जाय, तो फौज चाहे जितनी मजबूत हो, वह मुल्क हार ही जायगा। लेकिन अगर मुल्क का मनोबल बना रहा तो फौज के हारकर पीछे हटने पर भी वह हारेगा नहीं। वह विजयी सेना के सामने सर नही झुकायेगा। गांधीजी सत्याग्रह के रूप में सर न झुकाने का तो हमें एक शस्त्र ही देकर गये है। फिर अवसर देखकर आक्रमणकारी सैनिक हमला करता है। जहाँ तक सैनिक मोर्चे का सवाल है, उसका संगठन और संयोजन सरकार ही कर सकती है, जनता नहीं। लेकिन जन-मोर्चे की पूरी जिम्मेवारी आप पर ही है। सरकार इसे कर नही सकती। इग्लैंड और जर्मनी जैसे देशों में, जहाँ की करीब-करीब सारी आबादी शहरों में केन्द्रित है, सरकार की ओर से कुछ चौकीदार तथा गुप्तचर रखकर भले ही इस मोर्चे की कुछ सँभाल हो जाय, लेकिन इस देश मे वह नही हो सकता है। इस देश की आबादी ५॥ लाख गाँवों में छोटी-छोटी इकाइयों में बँटकर दूरस्थ जंगलों, झाड़ियो एवं कन्दराओं तक एक विस्तृत भूभाग में फैली हुई है। ऐसे देश के जन-मोर्चे की सँभाल मात्र सरकारी शक्ति के लिए असम्भव है। जनता खुद

सँभाले तो देश सँभलेगा, नहीं तो देश की सुरक्षा सम्भव नहीं है।

अतएव आप सबको गम्भीरता से विचार करना होगा कि जनता क्या करे कि यह विशाल देश सुरक्षित रहे। इसके लिए दो बातें मुख्य रूप से आवश्यक हैं।

पहली बात यह है कि पूरे देश में उत्कट देश-भक्ति का विकास करना होगा, जो आज दिखाई नही देता है। हमने चीन तथा पाकिस्तान के पिछले दो हमलों के अवसर पर मुल्क में देश-भक्ति की कुछ झलक देखी थी। लेकिन समझने की बात यह है कि वह देश-भक्ति थी या जान बचाने का तात्कालिक प्रयास था? आप लोगों को गाँवों में आग लगने का बहुत अनुभव होगा। जिन दो भाइयों में हमेशा लड़ाई रहती है, जिनकी स्त्रियों में भी बोलचाल बन्द रहती है, गाँव मे आग लगने पर वही लोग एक चूल्हे पर खाना बनाकर खाते हैं, यह आपने देखा होगा। क्या उसे आप भ्रातृ-प्रेम कहेगे? वह तो जान बचाने का आपद्धर्म मात्र है।

देश-भक्ति आपद्धर्म नही है, वह शाश्वत वृत्ति है। वह चारित्र्य का अङ्ग है। उसके विकास के लिए तात्कालिक प्रसंग काम नहीं देगा। उसके लिए स्थायी रूप से सामाजिक अभ्यास-क्रम बनाना पड़ेगा और उसका प्रारम्भ पड़ोस-भक्ति एवं ग्राम-भक्ति से करना होगा। जो मनुष्य पड़ोस-द्रोही एवं ग्राम-द्रोही है, वह देश-भक्त कैसे बन जायगा?

विनोबा ग्राम-स्वराज्य के लिए ग्रामदान की प्रक्रिया से इस अभ्यास-क्रम का मार्ग प्रस्तुत कर रहे हैं।

दूसरी बात यह है कि मुल्क को घुसपैठिये एवं पंचमार्गी फोड़ न सकें, उसके लिए आवश्यक है हर ग्राम एक ठोस, बाहोश तथा संगठित-सामुदायिक इकाई बने, जिसे विनोबाजी 'ग्राम-परिवार' की संज्ञा देते हैं। पुरानी प्रतिद्वन्द्वितामूलक पंचायती-पद्धति से उस उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। यह तो अपने-आप में ही विस्फोटक पद्धति है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ग्रामदान के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

यही कारण है कि सन् १९५७-५८ में सन्त विनोबा ने देश के सभी दलों के चोटी के नेताओं से कहा था कि ग्रामदान देश की 'डिफेन्स मेजर' अर्थात् सुरक्षा की योजना है। उस समय कोई नेता देश पर चीन के आक्रमण की सोच भी नहीं सका था।

राष्ट्र-विकास की समस्या

दूसरी समस्या राष्ट्र-विकास की है। बड़े उत्साहपूर्वक देश के विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं, अरबों रुपये खर्च हुए, लेकिन किसीको संतोष नहीं हुआ। नेता, सरकार और जनता सभी कहने लगे हैं कि इसमें से कुछ निकला नहीं है। क्या निष्पत्ति निकली, यह तो आप ही लोग साफ देख सकते हैं। लेकिन एक बात तो स्पष्ट ही है और वह यह कि जब हम आजाद हुए थे तो हमारे पास १२ सौ करोड़ रुपये की पूँजी जमा थी। राष्ट्र-विकास की परिणति यह हुई कि आज हमारे सिर पर १२ हजार करोड़ रुपयों का कर्जा लद गया। गांधीजी के नेतृत्व में सन् १९२१ से १९४७ तक २६ वर्षों के लगातार संग्राम के

फलस्वरूप हमने अपने सिर पर से विदेशी बंदूक उतार फेंकी, लेकिन अपने विकास का ऐसा ढंग रखा कि बीस साल के अंदर हमने अपने सिर पर विदेशी बन्दूक की जगह विदेशी संदूक लाद ली। हर किसान और मजदूर जानता है कि बाबू साहब की लाठी से लालाजी की तिजोरी अधिक भयानक होती है।

जब हम ऐसी टीका करते हैं तो देश के समाजशास्त्री हमें अवैज्ञानिक कहकर हँसी उड़ाते हैं। वे कहते हैं समाजशास्त्र की यह आवश्यक पद्धति है। विकासशील व्यक्ति या राष्ट्र बाहर से कर्ज लेकर अपनी समृद्धि बढ़ायें और फिर बढ़ी हुई समृद्धि में से उस ऋण को चुका दें। यह सही है कि हम और आप उतने सूक्ष्मदर्शी शास्त्रज्ञ नहीं हैं, लेकिन हम देखते क्या है? देखते यह हैं कि बीस वर्षों मे देश इतना समृद्ध हो गया कि हम देश के एक छोटे हिस्से के दो सूखों का सामना नही कर सके और मुल्क भूख से छटपटा रहा है! यह सब देखकर जब हम समाजशास्त्री से पूछते हैं कि आखिर समृद्धि की वृद्धि कहाँ हो रही है, तो वे कहते हैं कि हमारे देश की औसत आय में वृद्धि हुई है। विद्वानों के मुँह से औसत आमदनी में वृद्धि की बात सुनकर हमें लालाजी की कहानी याद आती है।

एक लालाजी अपने तीन बच्चों के साथ भोज खाने जा रहे थे। रास्ते में एक छोटी नदी पार करनी थी। लालाजी ने नदी की गहराई का औसत नापा, उन्होंने नापकर बीच की और किनारे की गहराई का औसत साढ़े तीन फुट निकाला और बच्चों की औसत ऊँचाई साढ़े चार फुट थी। यह देख उन्होंने अपने पीछे-पीछे बच्चों को नदी पार करने के लिए कहा। पार होकर

लालाजी ने देखा कि एक बच्चा गायब । परेशान होकर उन्होंने जेब से कागज निकालकर आँकड़ों को देखा और कहा : लेखा-जोखा थाहे । लड़का बुड़ल काहे ?

उसी तरह हमारे पंडितों के औसत आँकड़ों के चक्कर में देश का छोटा बच्चा डूब मर रहा है । दुर्भाग्य स इस देश में पचासी प्रतिशत छोटे बच्चे है, जो भूख से तडप रहे है, डूब रहे हैं, मर रहे है ।

लालाजी का बच्चा इसलिए डूबा था कि उन्होंने बुनियाद में ही गलती की थी । वह औसत हिसाब के फेर में पड़ गये। अगर वे नदी की मझधार की गहराई को ही नापते और केवल छोटे बच्चे की ऊँचाई को देखते तो उनका बच्चा न डूबता । वह नदी पार करने के लिए दूसरे उपाय खोजते ।

उसी तरह देश के योजनाकारों ने देश की समस्याओं की मझधार को नहीं नापा और न ही छोटे बच्चे की शक्ति का अन्दाज लगाया । देश की समस्याओं की मझधार है पेट की समस्या और छोटे बच्चे के पास पूँजी की शक्ति नहीं है, श्रम की शक्ति है । उनका विचार न करके समाजशास्त्री नेताओं ने पूँजीमूलक बड़ी-बड़ी योजनाओं को उठा लिया, उन्हें विदेशी सन्दूक के सहारे संयोजित किया और देशभर में फैली हुई जन-शक्ति का ख्याल न कर एक वृहद् नौकरशाही का जाल बिछाकर उसके माध्यम से सन्दूक में से निकाल-निकालकर राहत बाँटने लगे । फलस्वरूप देश की जनता पूँजीवाद से शोषित और नौकरशाही से पददलित होकर बुरी तरह छटपटा रही है।

अगर आप राष्ट्र का वास्तविक विकास चाहते हैं, तो आपको सन्दूक का सहारा और नौकरशाही का भरोसा छोड़ना होगा। आपको अपने सामूहिक संकल्प से, स्वतंत्र अभिक्रम से तथा सामुदायिक पुरुषार्थ से अपने अन्दर निहित लोक-शक्ति को जगाना होगा और उसीके सहारे अपने विकास का काम करना होगा। ऐसा करने में आप भले ही कहीं से मदद लें, लेकिन वह मदद आपको अपनी शक्ति से लेनी होगी, न कि आप दूसरे के भरोसे और सहारे बैठे रहें। गाँव-गाँव मे सार्वभौम ग्राम-स्वराज्य की स्थापना करनी होगी, जिसमे से पूरे राष्ट्र के लिए विकास का स्रोत निकलेगा। आज आपने जो कुछ किया है, वह एक सकल्पमात्र है। इस संकल्प को ग्रामदान की पद्धति से पूर्ण करना होगा।

नौकरशाही-पद्धति से गाँव के विकास का काम भारत जैसे गरीब देश के लिए बहुत महँगा है। इस पद्धति से नौकरों को खिलाने में ही आप कंगाल हो जायेंगे। जरा हिसाब लगाइये। आपके ब्लाक के लिए साल में एक लाख सत्तर हजार रुपये खर्च होते हैं। अभी आपके बी० डी० ओ० साहब ने कहा कि उसमें से ६० हजार रु० कर्मचारियों पर खर्च होते हैं अर्थात् आपको एक लाख दस हजार रुपया ही मिलता है। भ्रष्टाचार के कारण इसमें से भी जितनी रकम झर जाती है, वह तो अलग ही है। अव जरा सोचिए, वह रकम आती कहाँ से है? उसे तो आपको ही देना पड़ता है। फिर हिसाब जोड़िये कि उतनी रकम सरकार को देने के लिए आपको कितना और खर्च करना पड़ेगा? आप अगर तीन लाख रुपया सरकार को देंगे, तो उसमें से

७० हजार रुपया लिवाई खर्च होगा और ६० हजार रुपया दिवाई खर्च काटकर आपके पास एक लाख साठ हजार रुपया लौटेगा। उसमें से भी भ्रष्टाचार के लिए छीजन काटकर शायद एक लाख ही वापस मिलें। इसमें कौनसी बुद्धिमानी है कि तीन लाख रुपया खर्च करके एक लाख रुपये का ही काम हो। अतः यदि आपको वास्तविक विकास करना है, तो ग्राम-दान की प्रक्रिया से ग्राम-स्वराज्य की स्थापना करके नौकर-शाही-पद्धति को समाप्त करना ही होगा।

विकास के सिलसिले में आज की तात्कालिक विकट समस्या पर खास ध्यान देने की आवश्यकता है। देश के अनेक हिस्सों में अकाल की स्थिति पैदा हो गयी है। यह सही है कि कुछ हिस्सों में लगातार दो-दो फसलें सूखाग्रस्त हो गयी हैं, लेकिन अगर पूरे देश में पर्याप्त अन्न होता तो थोड़े हिस्सों को इतना विशाल देश आसानी से बचा ले सकता था। किन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसका मतलब यह है कि देश में अन्नोत्पादन की दशा अत्यन्त निम्न स्थिति पर है। क्या इस स्थिति के लिए सूखे का तर्क काफी है? सूखा तो है, लेकिन जब से देश आजाद हुआ है, तब से हर तीसरे-चौथे वर्ष अन्न-स्वावलंबन का संकल्प करते रहे हैं। हमने सन् १९५१ तक अन्न-स्वावलंबन की बात सोची थी, फिर क्रमशः १९५४–५७–६२–६७ का लक्ष्य पार कर अब सन् १९७१ का स्वप्न देख रहे हैं। इस प्रकार हमारे लिए अन्न-स्वावलंबन की अवधि का लक्ष्य मृग-मरीचिका जैसा बन गया है।

स्थिति को अनेक प्रकारों और तरीकों से टालने से काम नहीं चलेगा। उत्पादन-वृद्धि क्यों नहीं हो रही है, इसके कारणों में जाना होगा। उसका मुख्य कारण है देश की जमीन की परिस्थिति। बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं, जिनके पास जमीन नगण्य है, और जो अपनी जमीन पर अपनी ही मेहनत से उत्पादन करते हैं, बाकी करीब-करीब कुल जमीन पर दो भागीदार काम करते हैं। एक मालिक और दूसरा मजदूर। मालिक का दिल जमीन पर रहता है और हाथ-पाँव घर पर। दूसरी ओर मजदूर का हाथ-पैर जमीन पर और दिल घर पर रहता है।

हम खाद और पानी बढ़ाने की बात सोचते हैं। ऐसा सोचना जरूरी भी है। लेकिन जमीन पर पैदा मनुष्य करता है, खाद और पानी मनुष्य को मदद मात्र करते हैं, लेकिन मुश्किल यह है कि कोई साबुत मनुष्य जमीन पर नहीं दिखाई देता। दिल एक का और हाथ-पैर दूसरे के। पैदावार तब बढ़ेगी, जब मालिक यानी बाबू लोग—स्त्री और पुरुष—जमीन पर जाकर हाथ-पैर से काम करेंगे और मजदूर हाथ-पैर के साथ दिल को भी जमीन पर ले जायेंगे, ताकि हर मनुष्य दिल और हाथ-पैर दोनों से जमीन पर काम करे। यह स्थिति पैदा करने का एकमात्र मार्ग ग्रामदान है।

हम जब कहते हैं कि बाबू लोग सपरिवार खेत में काम करें, तो हजारों वर्षों के संस्कारों के कारण वे कहते हैं: "हमारी बहू-बेटियाँ खेत में धान रोपेंगी तो सबकी नाक कट जायगी।" लेकिन समझना चाहिए, इस जमाने में नाक और पेट दोनों साथ-साथ नहीं बचनेवाले हैं। अगर पेट भरना है, तो नाक

कटवानी ही पड़ेगी। यह बात सिर्फ हम ही नही कहते हैं। सब लोग दिल से इस बात को महसूस करते है, लेकिन महान् क्रान्तिकारी को छोड़कर दूसरा कोई भी समाज के खिलाफ अकेला खडा होकर नाक नही कटवा सकता। जब ग्रामसभा में सब लोग बैठकर विचार करेंगे और यह तय करेंगे कि सब लोग इसे करें, तब नाक कटवाने का सवाल नहीं पैदा होगा, सामूहिक निर्णय से सब लोग उसे कर लेंगे। दूसरी तरफ ग्रामदान से हर मजदूर को ग्रामसभा की सदस्यता के नाते कुल जमीन का वैधानिक मालिक तथा कुछ जमीन का वास्तविक मालिक बनाकर उनके दिल को जमीन पर दाखिल करने का द्वार खोल देते है।

इस विज्ञान के युग मे सबके दिलों को और हाथ-पैरों को जमीन पर ले जाने मात्र से पेट नही भरेगा। पहले के जमाने में प्रतिव्यक्ति जितनी जमीन थी, आज उसकी चौथाई भी नहीं रही। अत. आज की पूरी जन-संख्या को अगर खिलाना है, तो करीब चारगुना अधिक पैदा करना होगा। इसके लिए जमीन पर विज्ञान का भी प्रवेश जरूरी है। आज गाँव में ऐसा संदर्भ नहीं है, जिससे शिक्षित तथा वैज्ञानिक लोग गाँव में टिक सकें। गाँव का केवल आर्थिक शोषण ही नहीं हो रहा है, बल्कि वर्तमान पद्धति के कारण बौद्धिक शोषण भी हो रहा है। सब लोगों को जब अकेले-अकेले अपनी जीविका का आधार और संरक्षण सोजना पड़ता है तो बुद्धिमान् लोगों के लिए गाँव छोड़कर बाहर जाने के सिवा कोई चारा नहीं रहता है। मनुष्य को काम के लिए कोई-न-कोई प्रेरणा चाहिए। उसको आर्थिक या भावनात्मक प्रेरणा मिलेगी, तभी वह कुछ करने को तैयार

होगा। आज गाँव में भावनात्मक प्रेरणा की कोई भूमिका नहीं है। अतः बाहर की आर्थिक प्रेरणा ही एकमात्र आकर्षण रह गयी है। पूरा ग्राम-समाज जब वर्तमान सकटपूर्ण पद्धति तथा परिस्थिति से मुक्ति की चेतना के साथ अपने-अपने गाँव में सार्वभौम ग्राम-स्वराज्य की स्थापना के सकल्प में ग्रामदान करेगा, तो गाँव के शिक्षित तथा वैज्ञानिक युवक-युवतियों को गाँव में रुकने के लिए भावनात्मक प्रेरणा मिलेगी।

भ्रष्टाचार इस देश की भयंकर समस्या है। पूरा समाज भ्रष्टाचार से ग्रस्त और त्रस्त है। देश के चोटी के नेता से लेकर राही-बटोही तक निरन्तर कहते रहते हैं कि भ्रष्टाचार खत्म होना चाहिए। लेकिन सवाल यह है कि वह हो कैसे? जब भ्रष्टाचार राष्ट्रीय चरित्र का अग बन जाता है, तब उसका निराकरण सरकारी कानून या प्रक्रिया से नही हो सकता? व्यक्तिगत रूप मे कोई मिनिस्टर या अधिकारी चाहे जितना ईमानदार या कड़ा हो, उसे प्रचलित भ्रष्ट मशीन के मार्फत ही काम करना होता है, इसलिए वह कामयाब नही हो सकता। राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण गुरुकुल या छात्रावास के घेरे के अन्दर छात्रों को नैतिक शिक्षण देने से नही हो सकता, क्योंकि उसे उसी भ्रष्ट समाज में रहना है। भ्रष्टाचार का निराकरण सामाजिक प्रक्रिया द्वारा ही हो सकता है।

संसार मे कोई भी व्यक्ति न तो पूर्ण देव है, न पूर्ण दानव। वस्तुतः देव और दानव को मिलाकर ही मानव बनता है। हर मनुष्य मे देव-वृत्ति और असुर-वृत्ति निहित है। जिसमें देव-वृत्ति अधिक बलिष्ठ है, वह जब अपने अन्दर की

असुर-वृत्ति को नियंत्रित करता है, तब उसे सज्जन कहते हैं और जिसकी असुर-वृत्ति बलिष्ठ होती है, उसकी देव-वृत्ति दब जाती है, उसे दुर्जन कहते हैं। राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण के लिए जहाँ व्यापक लोक-शिक्षण आवश्यक है, वहाँ सामाजिक पद्धति को भी अनुकूल बनाना जरूरी है। व्यापक लोक-शिक्षण के लिए भी स्कूल नहीं खोले जा सकते। इसके लिए नैतिक मूल्यों के आधार पर जन-आन्दोलन आवश्यक है। ग्राम-स्वराज्य का आन्दोलन उसीकी योजना है।

ग्रामदान की प्रक्रिया द्वारा जब आप अपनी जमीन की मालिकी ग्राम-सभा को स्वेच्छा से सौंपते हैं, बीघा में एक कट्ठा जमीन निकालकर भूमिहीनों को देते हैं, अपनी पैदावार का चालीसवाँ हिस्सा ग्रामकोष में दान देते हैं और नौकरी, तिजारत या मजदूरी की आमदनी में से तीसवाँ हिस्सा ग्राम-समाज के लिए खर्च करते हैं, तो आप अपने अन्दर की देववृत्ति को पौष्टिक खुराक पहुँचाकर बलिष्ठ करते हैं। जब आप ग्राम-सभा के चुनावों को सर्वानुमति से सम्पन्न करते हैं, तो आज की प्रतिद्वन्द्वितामूलक राजनीति के कारण मनुष्य के अन्दर की असुर-वृत्ति को जो खुराक मिलती है, उसे बन्द करते हैं। इस तरह इस आन्दोलन की प्रक्रिया में ऐसे सामाजिक अभ्यास-क्रम को दाखिल करते हैं, जिससे मनुष्य के अन्दर की देव-वृत्ति ताकतवर बनती है और असुर-वृत्ति कमजोर होती है। इस प्रकार गौर से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि ग्रामदान-आन्दोलन के अलावा भ्रष्टाचार के निवारण का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

लोकतंत्र यानी स्वराज्य की समस्या

भारत आजाद हुआ और देश के नेताओं ने लोकतंत्र की स्थापना की। लोकतंत्र में जनता मालिक है—ऐसा माना जाता है। लेकिन हम जब जनता को देखते हैं, तो ऐसा नहीं लगता कि वह मालिक है। वह वैसी ही मालिक है, जैसे नाटक में कोई राजा का अभिनय करता है। गाँव का रामदीन कहार नाटक में राजा बना। वह रातभर सिंहासन पर बैठकर और छाती फुलाकर हुकूमत करता रहा। सुबह वही रामदीन पालकी ढो रहा है। उसी तरह देश में पाँच साल में एक बार 'जनता मालिक' का नाटक खेला जाता है। जब चुनाव का समय आता है, तब मालिक जनता, राजा रामदीन की तरह ही अपने-अपने घर पर छाती फुलाकर बैठती है। हम जब सेवक की बहाली की दरखास्त लेकर आपके घर पहुँचते हैं, तब आप मालिक की शानदार मुद्रा में उत्तर देते हैं: "ठीक है, आपकी दरखास्त पर ख्याल किया जायगा।" लेकिन जब चुनाव की पेटियाँ उठकर चली जाती हैं अर्थात् नाटक समाप्त हो जाता है, तब यद्यपि मालिक जनता अपने सेवक के रूप में मिनिस्टर को चुनती है और वह मिनिस्टर कलक्टर को अपना नौकर बनाता है। तथापि वही नौकर जब मालिकों के गाँव में जाते हैं, तब गाँव में बड़े-बड़े मालिक अपने नौकर को झुककर सलाम करते हैं और नौकर धीरे से सिर हिला देता है। मित्रो! आपने कभी देखा-सुना है या पढ़ा है कि नौकर और मालिक की मुलाकात होती है तो मालिक झुककर सलाम करे और नौकर सिर हिलाये?

अत. देश के स्वराज्य की क्या स्थिति है, उसे समझने के लिए राजनीति-शास्त्र या लोकतंत्र की मोटी किताबे पढने की जरूरत नही है। जब स्थिति ऐसी रहती है कि कलक्टर और मिनिस्टर आपको झुककर सलाम करें और आप सिर हिलाये तो समझना चाहिए कि देश में लोकशाही चल रही है। लेकिन जब आप ही झुककर सलाम करते है और कलक्टर सिर हिलाता है, तो समझना चाहिए कि देश में नौकरशाही चल रही है। अर्थात् आज देश मे लोकतंत्र नही है, स्वराज्य नही है। जो कुछ है, वह विदेशी राज्य के स्थान पर नौकरशाही के रूप मे स्वदेशी राज्यमात्र है।

यही कारण है कि जब हम अंग्रेजी शासन हटाने की लड़ाई लड़ रहे थे, तब गांधीजी ने कहा था कि अंग्रेजी शासन समाप्त करना स्वराज्य का पहला काम है। गांधीजी ने उसी समय कहा था : "मै एक सौ पचीस साल तक जिन्दा रहना चाहता हूँ" और यह भी कहा था : "मै जब तक जिन्दा रहूँगा, स्वराज्य की लड़ाई लड़ता रहूँगा।" जब अंग्रेजों के चले जाने की बात चल रही थी तो देश के चोटी के उद्योगपति सेठ घनश्यामदास बिडला ने उनसे कहा था : "बापू, आप कहते थे कि '१२५ साल जिऊँगा और जब तक जिऊँगा, तब तक स्वराज्य की लड़ाई लड़ता रहूँगा', तो अब आप किससे लड़ेंगे ?" गांधीजी ने तुरन्त उत्तर दिया : "अब हम तुमसे लड़ेंगे, लेकिन वह लड़ाई मीठी लड़ाई होगी।"

यह तो सब समझ ही सकते है कि गांधीजी को बिड़ला से व्यक्तिगत लड़ाई नही करनी थी। इस कथन का आशय यही

था कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद गांधीजी उस पद्धति से लड़ना चाहते थे, जिसका बिड़ला प्रतीकमात्र है। उन्होंने जो मीठी लड़ाई की बात कही थी, उसे भी समझ लेना चाहिए। गांधीजी ने अगली लड़ाई के लिए 'मीठी' शब्द का इस्तेमाल किया। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने अंग्रेजी शासन से की गयी लड़ाई को 'तीखी' लड़ाई माना था। गांधीजी ने अंग्रेजों से सत्य और अहिंसा के माध्यम से लडाई लड़ी थी, फिर भी उन्होंने उसे 'तीखी' लड़ाई माना। वह एक पक्ष की दूसरे पक्ष के साथ की लड़ाई थी। जब लड़ाई पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच होती है, तो उसके लिए प्रतिरोध की शक्ति का इस्तेमाल करना पड़ता है। लेकिन जब लड़ाई किसी पद्धति और परिस्थिति के साथ पूरे समाज की होती है, तब लड़ने के लिए कोई प्रतिपक्षी नहीं रहता है। ऐसी लड़ाई की शक्ति प्रतिरोध में नही, अनुरोध में है। विनोबा अनुरोधी शक्ति से जो ग्राम-स्वराज्य की लड़ाई लड़ रहे हैं, वह गाधीजी के स्वप्न की मीठी लड़ाई है। जब पूरा समाज इसे अपनाकर ५॥ लाख गाँवों मे ग्राम-स्वराज्य स्थापित कर लेगा, तब इस मुल्क मे वास्तविक लोकतंत्र यानी स्वराज्य कायम हो सकेगा।

गांधीजी प्रारम्भ से ही इस लडाई की व्यूह-रचना कर रहे थे। सन् १९४४ के आखिर मे जेल से छूटते ही अ० भा० चरखा संघके मुख्य कार्यकर्ताओं की बैठक मे उन्होंने कहा कि अंग्रेज जा रहे हैं और जितनी जल्दी हम समझते हैं, शायद उससे पहले ही चले जायँ। द्रष्टा पुरुष थे, अतः उसी समय ऐसा भान होना उनके लिए स्वाभाविक था। इतनी सूचना देकर कहा : अब

देश में स्वराज्य कायम करना है, उसे शोषण से मुक्त करना है, इसलिए चरखा संघ के सेवकों को गाँव-गाँव में फैलकर बस जाना चाहिए और साथ ही सात लाख गाँवों के लिए सात लाख नौजवानों का आह्वान किया, ताकि हर गाँव के लोग संगठित होकर सार्वभौम ग्राम-स्वराज्य कायम करने के लिए प्रेरणा दे सकें। फिर जब अंग्रेज हमेशा के लिए चले गये, तो कांग्रेस से कहा कि अंग्रेज जिस तंत्र, पद्धति को छोड़कर चले गये हैं, वे, उसके संचालक न बनें, बल्कि 'लोकसेवक संघ' के रूप में गाँव-गाँव में फैलकर स्वराज्य-प्राप्ति में जनता का नेतृत्व करें। देश का दुर्भाग्य था कि चरखा संघ और कांग्रेस के नेताओं ने गांधीजी की वह बात समझी नहीं और वे खुद ही चल बसे।

गांधीजी चले गये, लेकिन अपना काम पूरा करने के लिए छोड़ गये अपने महान् शिष्य विनोबा को। सौभाग्य से विनोबा आप सबके सामने गांधीजी द्वारा परिकल्पित ग्राम-स्वराज्य स्थापित करने के लिए ग्रामदान-आन्दोलन का विचार बतला रहे हैं।

संस्कृति की समस्या

आज चारों तरफ भारतीय संस्कृति की रक्षा की बात चल रही है। संस्कृति की रक्षा जुलूस निकालकर, नारे लगाकर नहीं हो सकती। मुल्क की भूमि पर उसकी रक्षा होनी चाहिए। इतिहास साक्षी है कि किसी भी देश की संस्कृति की रक्षा उस देश का किसान करता है। उद्योगवाद या पूँजीवाद से संस्कृति का ह्रास होता है। क्योंकि उसमें मनुष्य के साथ मनुष्य

का सम्बन्ध आर्थिक होता है। किसानवाद का सम्बन्ध मानवीय होता है। पूँजीवाद में पड़ोसी को श्रीमान् और श्रीमती फलाना कहा जाता है। किसान अपने पड़ोसी को फलाना काका, फलानी मौसी और फलानी दीदी कहता है, चाहे आपस में कितना ही झगड़ा हो, फौजदारी चलती रहे, लेकिन आपस का बुनियादी मानवीय सम्बन्ध वह नही छोड़ता। आर्थिक सम्बन्ध में से शृंगार निकलता है, संस्कृति नही। संस्कृति का विकास मानवीय सम्बन्ध से ही हो सकता है।

दुर्भाग्य से आज गाँव-गाँव में किसान के हाथ से तेजी से जमीन निकलकर पूँजीवाद के हाथों में जा रही है। अगर तुरन्त इस स्थिति को रोका न गया तो देशभर के किसान पूँजीवाद के गर्भ मे विलीन हो जायेगे और साथ-साथ जिस संस्कृति की रक्षा के लिए इतनी चर्चा चल रही है, उसकी समाप्ति हो जायगी। आपने ग्रामदान के संकल्प के साथ यह जो निर्णय किया है कि गाँव की जमीन न बिकेगी, न किसीके हाथ बंधक रहेगी और अगर कभी आपत्ति-काल के लिए जरूरत पड़ेगी तो पूरे गाँव की सम्मति से आपस में ही हेरफेर करके काम चलायेंगे, वह संकल्प आपको सम्पूर्ण रूप से पूँजीवाद के चंगुल में जाने से बचायेगा। फिर **कृषिमूलक उद्योगप्रधान स्वावलम्बी अर्थनीति** के माध्यम से ग्राम-समाज का विकास करेंगे, तभी देश की संस्कृति की रक्षा हो सकेगी।

वर्गभेद की सामाजिक समस्या

अन्त में सामाजिक समस्या पर आपका ध्यान ले जाना चाहता हूँ। उसमें सर्वाधिक संकट सामाजिक परिस्थिति में

है। ग्रामीण समाज में आज मालिक और मजदूर के रूप में जो वर्गभेद की स्थिति बनी हुई है, वह अत्यन्त विस्फोटक बन गयी है। मालिक और मजदूर का भेद पुराने जमाने में भी रहा है। उस समय शोषण या अन्याय भी था, लेकिन स्थिति विस्फोटक नही थी। पहले मालिक के पास इतने साधन होते थे कि वे मजदूरों की काफी परवरिश कर लेते थे और मजदूर के पास मालिक की जमीन जोतने के अलावा दूसरा बहुत काम नही था। अतः आपस में अच्छा संबंध था, जिसमें कुछ स्नेह और भक्ति का समावेश भी था। लेकिन अब जमाना बदल गया और पुरानी स्थिति रही नही। अब मालिक के पास उतना साधन नही, जिससे मजदूर की ठीक से परवरिश हो सके और न मजदूर के पास उतनी मजबूरी है, जिससे उसको मालिक के घर काम करना ही पड़े। किसीसे काम कराने के लिए भक्ति या भय दो मे से एक तत्त्व आवश्यक होता है। इस परिस्थिति मे भक्ति-निर्माण की कोई गुंजाइश नही रही। मालिक के पास भय-निर्माण के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं रह गया है। संगठित भय आतंक का रूप ले लेता है। इस तरह समस्त ग्रामीण समाज मे आज एक उत्कट आतंक का वातावरण बना हुआ है।

उपर्युक्त आतंक की परिस्थिति के साथ देश में शिक्षा का प्रसार हो रहा है, भिन्न-भिन्न विचारों का प्रचार हो रहा है। एक के बाद दूसरे चुनाव-अभियान के दौरान सबके समान अधिकारों का उद्घोष हो रहा है और इन तमाम प्रक्रियाओं के फलस्वरूप लोकचेतना में निरन्तर वृद्धि हो रही है। समाज-

व्यापी आतंक के साथ सार्वजनिक लोक-चेतना जुड़ जाने की निष्पत्ति वही होगी, जो निष्पत्ति पेट्रोल के साथ आग जुड़ने से होती है अर्थात् अगर इस वर्गभेद को तुरन्त मिटाया न गया तो गाँव-गांव में भयंकर विस्फोट के फलस्वरूप सबके सब भस्म हो जायेंगे, न मालिक बचेंगे, न मजदूर।

ग्रामदान से तत्काल वर्गभेद का निराकरण होता है। पूरी जमीन की मालिकी जब ग्रामसभा को सौंप देते हैं और हर बालिग को, चाहे वह मालिक हो या मजदूर, ग्रामसभा का सदस्य बनाते हैं तो एक ही निर्णय से हरएक को मालिक-श्रेणी में दाखिल करते हैं। जितने मजदूर हैं, उन्हें बीघा में एक कट्ठा जमीन सौंपकर उन्हें वास्तविक मालिक बना देते हैं। इस तरह तत्काल वर्गभेद मिट जाता है, केवल आर्थिक विषमता रह जाती है। वह विषमता आज भी मालिक-मालिक के बीच और मजदूर-मजदूर के बीच मौजूद है, लेकिन उस कारण मालिक-मालिक के बीच विभेद नहीं बनता है।

देश के नौजवानों में जोश है—होना ही चाहिए। वे कहते हैं कि वर्गभेद मिटाना है तो जाने-बूझे मार्ग को क्यों नहीं अपनाते हैं? इतिहास ने वर्ग-संघर्ष का रास्ता तो प्रशस्त कर ही रखा है। लेकिन जोश के साथ होश भी चाहिए। संघर्ष हुआ होगा किसी देश या किसी युग में, लेकिन इस युग में और इस देश में वैसा नहीं हो सकता। इस युग में किसी देश के अन्दर का राष्ट्रव्यापी संघर्ष उस देश के भूगोल के अन्दर मर्यादित नहीं रहेगा। वह विश्व-संघर्ष में परिणत होगा, जिसे टालने के लिए सारा विश्व व्याकुल है। फिर इस देश में वर्ग-

संघर्ष सफाई के साथ दो वर्गों मे मर्यादित नही रह सकता, क्योंकि वर्गभेद के ताने के साथ वर्णभेद का वाना घुसा हुआ है। इसलिए वह नियंत्रित वर्ग-संघर्ष का रूप न होकर सामाजिक विस्फोट का रूप ले लेगा। इस तथ्य पर काफी तर्क उपस्थित किया जा सकता है। तर्क-वितर्क में न जाकर अगर यह माना जाय कि वर्गभेद-निराकरण के लक्ष्य को लेकर राष्ट्रव्यापी वर्ग-संघर्ष का नियोजन हो सकता है तो सोचने की बात यह है कि क्या जिस देश पर बाहरी हमलों का खतरा मौजूद हो, आंतरिक भुखमरी, भ्रष्टाचार और अनेक प्रकार की अशांत परिस्थितियाँ मौजूद हों, तो क्या वह देश व्यापक वर्ग-संघर्ष के उद्‌घोष का खतरा उठा सकता है ? निःसंदेह ऐसा नही कर सकता। ऐसे मुल्क मे तो सामान्य वैधानिक दलगत मतभेद को भी भुलाकर राष्ट्रीय सरकार बनाने की जरूरत पड़ती है।

अतएव जब यथास्थिति रखी नहीं जा सकती है और वर्ग-संघर्ष व्यवहारिक हो नही सकता है, तब ग्रामदानी प्रक्रिया से तुरन्त वर्ग-निराकरण के सिवा विस्फोटक परिस्थिति को बदलकर समाज को भस्मीभूत होने से बचाने का दूसरा रास्ता नही है, यह सोचना चाहिए। गाँव में जब आग लगती है, तब उसकी लपटें धनी-गरीब और मालिक-मजदूर का भेद नही करती और सब घर जलाती है। उसी प्रकार सामाजिक विस्फोट किसीको छोड़ नहीं सकता। वह भी धनी-गरीब, मालिक-मजदूर सबको भस्म करेगा। इसलिए विनोबा कहते है कि इस क्रान्ति में मालिक-मजदूर और महाजन सबको शामिल होना होगा, क्योंकि

यह क्रान्ति वर्तमान संकटकालीन पद्धति और परिस्थिति से पूरे समाज की मुक्ति का अभियान है। जो लोग आज इस तूफानी अभियान की ओर पीठ किये हुए हैं या मुँह मोड़े हुए हैं, वे समझ नही रहे हैं कि ऐसा करके वे वच नही सकेंगे। उनकी हालत ठीक वैसी ही है, जैसी शुतुरमुर्ग की होती है। शुतुरमुर्ग के पीछे जब शिकारी जानवर दौड़ता है तो वह अपना मुँह बालू में गड़ा देता है और समझता है कि हम सुरक्षित हो गये हैं, लेकिन वह सुरक्षित रह नही पाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि पूरे समाज के सभी लोग—अमीर-गरीब, मालिक-महाजन और मजदूर-इस क्रान्ति में शामिल होकर समाज की सुनिश्चित सुरक्षा का अधिष्ठान करे।

मैंने इस जमाने की परिस्थिति की उत्कट चुनौती क्या है, उसके विवेचन की कोशिश की है। मुझे आशा है कि आप गंभीरतापूर्वक इन तमाम प्रश्नों पर विचार करेगे और जितने भाई-बहन इसमें शामिल नहीं हुए हैं, वे सव ग्रामदान की इस महान् क्रान्ति में शामिल हो जायेंगे और सबकी सम्मिलित शक्ति से जमाने की चुनौती का समुचित उत्तर दे सकेंगे।

आखिर में मैं अपने दिल की वात कहना चाहता हूँ। जब मुझको मालूम हुआ कि दरभंगा का जिलादान हुआ, तो यह एक कौतुक का विषय लगा। लेकिन बाद मे गहराई से सोचने पर ऐसा नही मालूम हुआ कि कोई आश्चर्यजनक घटना घटी है। दरभंगा-जिला मिथिला की रीढ़ है। जिस मिथिला ने राजतंत्र के युग में संसार के सामने राजधर्म का आदर्श पेश

किया था, उसी मिथिला से लोकतंत्र के युग में लोकधर्म के आदर्श का प्रथम उदय हो रहा है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वह तो होना ही था और हो रहा है। ग्राम-स्वराज्य की क्रान्ति का क्षेत्र मुख्य रूप से राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक है, लेकिन उसकी प्रक्रिया आध्यात्मिक है। क्योंकि इस क्रान्ति की गति-शक्ति अनुरोध और धृति-शक्ति सम्मति है। इस आध्यात्मिक क्रान्ति का श्रीगणेश अगर ब्रह्मविद्या की जन्मभूमि मिथिला से निकलता है, तो यह कोई चमत्कार नहीं है। हर भूमि की अपनी-अपनी विशेषता होती है, स्वभाव और स्वधर्म होता है, अपनी भूमिका होती है। उसी भूमिका के अनुसार उसका इतिहास बनता है और उसकी सनातन परम्परा चलती है। मुझे विश्वास है कि गांधीजी ने जो सात लाख नौजवानों का आह्वान किया था और अमर आत्मा का वह आह्वान अभी भी जारी है, उसके अनुसार इस भूमि में से हजारों की तादाद मे प्रतिभावान् तथा उद्बुद्ध युवक-युवतियाँ निकलेंगी और इस महान् यज्ञ की पूर्णाहुति करके ही साँस लेंगी और यह भूमि फिर से एक बार दुनिया का मार्गदर्शन करेगी। ●

नयी क्रान्ति के लिए
नया वाहन और नया संगठन : २ :

काल-पुरुष युग की माँग को पूरा कर ही लेता है। लोक-प्रवाह चाहे जितना रूढि-ग्रस्त हो, काल के साथ आगे बढ़ने में चाहे जितना भयभीत हो, वह लोक के अन्तर्मन में प्रवेश कर किसी व्यक्ति के माध्यम से कोई एक घटना को निमित्त बनाकर लोक-प्रवाह को अपने साथ कर ही लेता है।

प्रश्न यह है कि इस जमाने की परिस्थिति क्या है और उसके कारण सकट क्या हैं ? फिर, उन संकटों से मुक्ति का उपाय क्या है ? वस्तुत: आज का सकट मनुष्य के जीवन का संकट है। उसके सामने संकट जिन्दा रहने का है। अनादि-काल से अपनी, अपने जीवन की सुरक्षा की खोज करना प्राणि-मात्र की मूल प्रवृत्ति रही है। इसी खोज के फलस्वरूप संग्रह-वृत्ति और स्वामित्ववाद का जन्म हुआ था और तब से आज तक मनुष्य इसे अपनी सुरक्षा का साधन मानता आ रहा है। लोक-संख्या मे वृद्धि के साथ-साथ संग्रह का क्षेत्र संकुचित होता गया। परिणामस्वरूप पारस्परिक सघर्ष का अवसर बढ़ता गया और एक दिन ऐसी परिस्थिति बनी कि इसी संग्रह-वृत्ति ने फिर से मनुष्य की सुरक्षा पर ही खतरा पैदा कर दिया। अर्थात् जिस सुरक्षा की आकाक्षा ने स्वामित्ववाद को जन्म

दिया था, उस सुरक्षा को स्वामित्व से ही खतरा उत्पन्न हो गया। फिर, उस संघर्ष के समाधान की खोज से राजा और राज्यवाद का जन्म हुआ। मनुष्य ने राजा के हाथ में दण्ड-शक्ति सौंपी, ताकि उस दण्ड-शक्ति द्वारा मानव के पारस्परिक संघर्ष का नियंत्रण हो सके।

राजा ने दण्ड-शक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए शस्त्र-धारी सैनिक-तंत्र का निर्माण और संगठन किया, जिसके सहारे राजा एवं राज्य मनुष्य को आज तक सुरक्षा प्रदान करते रहे। धीरे-धीरे राजतंत्र में सैनिक-शक्ति की प्रधानता बढ़ी और उस कारण शस्त्र की प्रतिष्ठा मानव-प्रतिष्ठा के साथ होड़ करने लगी।

विज्ञान की अतिशय प्रगति ने शस्त्रों का विकास किया और वे आज अणु-अस्त्र के रूप मे इतने महाप्रलयकारी शक्तिमान् बन गये कि उनके मुकाबले मानव की प्रतिष्ठा की बात तो दूर रही, उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। इन प्रलयकारी अस्त्रों के चलते राज्यशक्ति भी मानव के पारस्परिक संघर्ष को नियंत्रित कर उसे संरक्षण देने में असमर्थ हो रही है। इसका एक कारण अस्त्रों की भयंकरता तो है ही, दूसरा कारण यह है कि विज्ञान एवं लोकतंत्र के विकास के परिणामस्वरूप सार्वजनिक लोक-चेतना का इतना अधिक विकास हो चुका है कि आज का सामान्य जन राजदण्ड के रूप में जड़-शक्ति का नियंत्रण स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है।

अतएव इस युग की माँग है कि मनुष्य दण्ड-शक्ति के विकल्प के रूप में किसी-न-किसी प्रकार की चेतन-शक्ति का

आविष्कार करे, क्योंकि विकसित लोकचेतना जड़-शक्ति के सहारे अब चल नहीं सकती।

दूसरी ओर स्वामित्ववाद अपने-आप सुरक्षा की गारण्टी देने में असमर्थ हो रहा है। जब संसार की लोक-संख्या बहुत थोड़ी थी और प्रकृति के पास साधन इफरात थे, तो इन्सान के पास अपनी सुरक्षा के लिए काफी संग्रह और सम्पत्ति रह सकती थी। लेकिन आज आबादी इतनी अधिक हो गयी है और उसके अनुपात में सम्पत्ति इतनी थोड़ी रह गयी है कि वह कुछ विशिष्ट जनों को छोड़ आम लोगों के लिए सुरक्षा की गारण्टी नहीं रह गयी है। अतः आज के युग की आवश्यकता यह है कि मनुष्य अपनी सुरक्षा के लिए स्वामित्व की मान्यता छोड़े और पूरे समाज को सुरक्षा के लिए मनोनीत एवं संगठित करे।

यह सही है कि इस जमाने में मनुष्य अपनी सुरक्षा के लिए समाजवाद को मान्य कर रहा है। लेकिन उसने यह नहीं समझा कि समाज के नये प्रकार के अधिष्ठान और संगठन के लिए नयी शक्ति और नयी पद्धति की आवश्यकता होती है। उन्होंने नये विचार की स्थापना और संगठन के लिए पुरानी दण्ड-शक्ति, यानी शस्त्रधारी सैनिक-शक्ति को ही समाजवाद की बुनियादी शक्ति के रूप में ग्रहण कर लिया। उन्होंने यह नहीं देखा कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की शक्ति की भाँति शस्त्र-आधारित दण्ड-शक्ति भी अब मानव की रक्षक नहीं रह गयी, विनाशक बन गयी है। अतः प्रचलित समाजवादी समाज सैनिक-शक्ति के दबाव के नीचे दबकर एक जड़-पिण्ड जैसा बन गया है।

यही कारण है कि विनोबाजी ग्रामदान और ग्राम-स्वराज्य के रूप में नये लोकवाद और समाजवाद के स्वरूप को विकसित कर रहे हैं, और उसके लिए इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि इस नये समाज की स्थापना और संगठन के लिए दण्ड-शक्ति से भिन्न तथा हिंसा-शक्ति की विरोधी स्वतंत्र लोक-शक्ति का अधिष्ठान आवश्यक है।

तब से आज चौदह साल बीत चुके हैं। इन चौदह सालों के सतत प्रयत्न से उन्होंने दुनिया के सामने ग्रामदान-तूफान की क्रांति का चश्मा खोल दिया है। जिस तूफान को कालपुरुष आज द्रुत-गति से आगे बढ़ा रहा है, उसके फलस्वरूप बिहार के दरभंगा जिले का जिलादान तक हो चुका है और वातावरण में बिहार-दान का नारा गूँज रहा है।

यह सही है कि विनोबा के माध्यम से देश की वर्तमान संकटकालीन परिस्थिति को निमित्त बनाकर काल-पुरुष लोक-मानस में प्रवेश कर उसे इस तूफानी प्रवाह में शामिल करा रहा है, लेकिन लोक तूफान के इस प्रवाह में दिशा-भ्रष्ट न होकर सुव्यवस्थित तथा संगठित मार्ग पर चल सके, इसके लिए आवश्यक शक्ति कहाँ है? राज्य-शक्ति से भिन्न जिस लोक-शक्ति के अधिष्ठान की कल्पना और घोषणा की गयी थी, उसका दर्शन कहाँ है और उसको प्रतिष्ठित करने का प्रयास किस स्थिति में है?

दुर्भाग्य से ग्राम-स्वराज्य की क्रांति का वाहन शुरू से ही ऐसी संस्थाएँ रही हैं, जिनका आधार दण्ड-शक्ति बनी

हुई है। इन संस्थाओं के संचालकों मे क्रांति का दर्शन है, संकल्प है और तीव्रता भी है। यही कारण है कि आज तक इतनी निष्पत्ति हो सकी है। लेकिन केवल भावना, निष्ठा, संकल्प तथा तीव्रता से किसी क्रांति का उद्‌बोधन तथा प्रारंभ भले ही हो जाय, क्रांति के अधिष्ठान तथा संगठन के लिए तो ठोस दण्ड-मुक्त लोक-शक्ति की ही आवश्यकता होती है।

क्रांति के इतिहास में गांधीजी की जो महान् देन रही है, वह है लक्ष्य के अनुरूप साधन का विचार। जिस तरह क्रांति की साधना में लक्ष्य के अनुसार साधन की आवश्यकता होती है, उसी तरह क्रांति के अधिष्ठान और संगठन के लिए उसके विचार के अनुरूप शक्ति एव पद्धति की आवश्यकता होती है। आज की क्रांति का लक्ष्य परपरागत दण्ड-शक्ति-आधारित तथा केन्द्र-संचालित समाज को बदलकर स्वतंत्र लोक-शक्ति-आधारित शासन-शोषण-मुक्त स्वावलंबी समाज की स्थापना करना है।

विनोबा पिछले अनेक वर्षो से विचार के अनुरूप शक्ति और पद्धति के संगठन के लिए तन्त्र-मुक्ति एवं निधि-मुक्ति का विचार व्यक्त करते रहे हैं। लेकिन क्रांति के संचालन की गति-विधि में इस दिशा में कोई गंभीर प्रयास नहीं हुआ। आज तक हम दण्ड-शक्ति-आधारित निधि-युक्त तंत्रों के सहारे ही अपना आन्दोलन चलाते रहे हैं।

लेकिन क्रांति की व्यापकता इस सीमा तक पहुँच गयी है कि अब वह पुरानी शक्ति के सहारे आगे बढ़ ही नहीं पा सकती है। अगर बढ़ेगी तो वह शक्ति विचार के अनुरूप न होने के

कारण क्रांति को अनिवार्यतः उसी प्रकार दिशा-भ्रष्ट करेगी, जिस प्रकार लोकतंत्र और समाजवाद की क्रांतियाँ पुरानी शक्ति और पद्धति के सहारे चलकर दिशा-भ्रष्ट हुई हैं। सर्वोदय की क्रांति के लिए यह सौभाग्य की बात है कि पुरानी शक्ति हमें प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं, जिसके फलस्वरूप नयी शक्ति की खोज अनिवार्य हो गयी है।

अतएव ग्राम-स्वराज्य की क्रांति के सेवकों को निश्चित रूप से तंत्र-मुक्त एवं स्वतंत्र लोक-शक्ति के आधार पर आन्दोलन को अधिष्ठित करने का मार्ग खोज निकालना होगा। वर्तमान राज्य-आधारित साधनों से जितनी प्रगति हुई है, प्राथमिक अवस्था मे उनका सहारा लेना आवश्यक भी था और आगे भी पूरक शक्ति के रूप में उनका, जो नयी क्रांति की सफलता के लिए आवश्यक है, लाभ हमेशा मिलता रहेगा। लेकिन वे उस नयी शक्ति का स्थान नहीं ले सकेंगे।

दण्ड-शक्ति से भिन्न और हिंसा-शक्ति की विरोधी शक्ति का आधार विचार ही हो सकता है। विचार-परिवर्तन दबाव में नहीं, मनाव से ही होता है और मनुष्य के मनाव के लिए शिक्षण ही एकमात्र प्रक्रिया हो सकती है।

अतएव व्यापक लोक-शिक्षण ही इस क्रांति की बुनियादी शक्ति है, ऐसा समझना चाहिए और उसी शक्ति के प्रसार एवं संगठन में आंदोलनकारी का संपूर्ण ध्यान केन्द्रित होना जरूरी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देशभर में लोक-शिक्षक समाज का संगठन होना आवश्यक है। स्पष्टतः यह संगठन तंत्र-मुक्त एवं निधि-मुक्त ही होगा। तंत्र-मुक्ति की साधना का मार्ग

'मुक्त-तंत्र' ही हो सकता है। साधना का प्रारंभ वहीं से होता है, जहाँ साधक पहले से मौजूद रहता है। आज हमारा आंदोलन पूरा-पूरा तंत्र-बद्ध है। अतः हमें वहीं से आगे बढ़ना होगा। अर्थात् तंत्र से पूरी तरह मुक्ति के पूर्व तंत्र का प्रकार बदलना होगा, जिसके सहारे अततोगत्वा तंत्र-मुक्ति सध सके। इसी प्रक्रिया को 'मुक्त तंत्र' की संज्ञा दी जा सकती है।

लोक-शिक्षक समाज संघ या संस्था का रूप न होकर एक भाईचारे का संगठन होगा, जिसका स्वरूप वैधानिक न होकर वैचारिक होगा। आज जो साथी ग्राम-स्वराज्य के काम में लगे हैं, उन्होंने तूफान की प्रक्रिया के सिलसिले में व्यापक पैमाने पर लोक-संपर्क किया है। इस सिलसिले में वे ऐसे अनेक मित्रों के संपर्क में आये हैं, जिनके स्वभाव में शिक्षण की वृत्ति है और जिनमें ग्रामदान की प्रक्रिया से ग्राम-स्वराज्य के विचार का उद्बोधन हुआ है। ऐसे तमाम मित्रों का एक व्यापक समाज स्थापित होना चाहिए, जो क्रांति के मुख्य वाहन बन सकेंगे।

गांधीजी ने अंग्रेजी राज्य के संध्या-काल में ही सात लाख गाँवों में ग्राम-स्वराज्य की स्थापना के लिए सात लाख तरुणों का आह्वान किया था। गांधीजी चाहते थे कि वे गाँव-गाँव में समग्र सेवा के माध्यम से स्वराज्य की स्थापना करें। उन्होंने कहा था कि सेवा की सारी-की-सारी प्रक्रियाओं को नयी तालीम के समुद्र में विलीन करना होगा, क्योंकि अहिंसक क्रांति की शक्ति तालीम ही हो सकती है।

अतएव लोक-शिक्षक समाज का संगठन इस गति से आगे

बढ़ाना होगा, जिससे हर गाँव के लिए कम-से-कम एक लोक-शिक्षक तुरन्त मिल सके।

देश की आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थिति के कारण भारत का देहात छिन्न-भिन्न हो गया है। आज कोई भी शिक्षित युवक अपने गांव में रहता नही है। अगर ग्रामीण क्षेत्र मे शिक्षित कहलानेवाले कोई है भी, तो वे विभिन्न पाठशालाओं और विद्यालयों के शिक्षक ही हैं। अतः लोक-शिक्षक समाज का प्राथमिक संगठन इसी शिक्षक-समुदाय के जैसे लोगों से, जिनमे क्राति का दर्शन और प्रेरणा है, खड़ा करना होगा। इन शिक्षकों के द्वारा लोक-शिक्षक समाज के सगठन का प्रारंभ होने पर धीरे-धीरे दूसरी श्रेणियों को—शिक्षण-वृत्ति के मित्रों को—उसमे सम्मिलित किया जा सकेगा। बहुत-से किसान, मजदूर तथा दूसरे पेशेवाले ऐसे है, जिनकी प्रवृत्ति एवं प्रकृति शिक्षण की है। वे सब लोक-शिक्षक समाज के सदस्य हो सकेंगे। इस तरह प्रखण्ड-स्तर से जिला-स्तर तक लोक-शिक्षक समाज का स्थायी संगठन खड़ा हो सकता है।

लोक-शिक्षक समाज की आवश्यकता केवल जनता में विचार का उद्बोधन और शिक्षण ही नही है; बल्कि भावी समाज का स्थायी नेतृत्व भी इसी समाज को करना होगा। अहिंसक समाज का नेतृत्व सत्ताधारी या सम्पत्तिवान् लोगों के हाथ में नही रह सकता। क्योंकि जिस शक्ति से समाज चलता है, नेतृत्व उसीके पास होता है।

ऐसे संगठन के लिए परिस्थिति के अनुसार जिला, अनुमंडल

या प्रखंड-स्तर के शिक्षकों का सम्मेलन एवं गोष्ठियों का आयोजन कर लोक-शिक्षक समाज की परिकल्पना उनके समक्ष रखनी चाहिए। जिन मित्रों को यह विचार पसन्द हो, वे अपनी सदस्यता के लिए संकल्प-पत्र भरेंगे, जिनके जरिये ग्राम-स्वराज्य की क्रांति के लिए नित्य चिंतन हेतु आंशिक समय देने का निश्चय वे करेंगे।

लोक-शिक्षक समाज के सदस्य अपने कार्य-क्षेत्र तथा घर के क्षेत्र के ग्रामीण जनों के बीच गोष्ठियों का संगठन कर उनमें विचारों का उद्बोधन एवं शिक्षण करेंगे। इस काम के लिए वे अपनी शक्ति के अनुसार एक या अनेक गाँव चुन ले सकते हैं।

लोक-शिक्षक समाज के सदस्य प्रभावपूर्ण तरीके से शिक्षण-कार्य कर सकें, इसके लिए आवश्यक है कि आंदोलन में लगे हुए वे सेवक, जिनमें क्रांति का दर्शन और विचार की सफाई है और जिनके सामने ग्राम-स्वराज्य का चित्र स्पष्ट है, शिक्षकों के प्रशिक्षण-शिविरों का संचालन करें।

देश में हजारों ग्रामदान हुए हैं। सौ से अधिक प्रखंडों का दान भी हो चुका है। एक जिलादान की घोषणा भी हो चुकी है और संपूर्ण उत्तर बिहार के दान की संभावना भी प्रकट हो रही है। लेकिन कुछ ही लोगों को छोड़कर बाकी करीब-करीब सभी लोग ग्रामदान का संकल्प काल-प्रवाह में बहकर ही कर रहे हैं। उन्हें मालूम नहीं कि ग्राम-स्वराज्य क्या है और क्यों जरूरी है। वे अत्यन्त कठिन संकट की स्थिति से क्यों गुजर रहे हैं, इसका भी कारण उन्हें ज्ञात नहीं है। वे चारों

ओर से शोषित और दलित हो रहे हैं, लेकिन उन्हें पता नहीं कि इसके लिए जिम्मेदार कौन है ? वर्तमान संकटपूर्ण परिस्थिति से जर्जरित ग्राम-समाज काल-पुरुष की अदृश्य प्रेरणा से तथा मुक्ति की अज्ञात आशा से तीव्रतापूर्वक इस क्रांति की ओर आकर्षित हो रहे हैं। ऐसे समय में गाँव-गाँव में लोक-शिक्षण के व्यापक कार्यक्रम द्वारा जनता की दृष्टि साफ करने की आवश्यकता है। नहीं तो वह आँख मूँदकर किसी भी दिशा में भटककर प्रतिक्रांति के दलदल में फँस जा सकती है।

लोक-शिक्षक समाज के सदस्यों को गाँव-गाँव में बैठ कर जनता को बताना होगा कि किस प्रकार सत्ता और सम्पत्ति को केन्द्रित कर शोषण-तत्त्वों का एक विराट् संगठन खड़ा हो रहा है, जो जनता की छाती पर बैठकर उन्हींकी भलाई और सेवा के नाम पर उनका ही शोषण कर रहा है। उन्हें बताना होगा कि किस तरह ग्रामीण समाज अपने को एक सामुदायिक शक्ति के रूप में संगठित कर सत्ता और शक्ति के इस संगठन को किनारे डालकर अपने-आपको आगे बढ़ा सकता है। उनके सामने सत्ता-निरपेक्ष, स्वतंत्र ग्राम-स्वराज्य का चित्र स्पष्ट रूप से रखना होगा और उनमें यह आत्मविश्वास पैदा करना होगा कि वे सत्ता को हटाकर अपने-आपको केवल खड़ा ही नहीं रख सकेंगे, बल्कि अपनी प्रगति भी कर सकेंगे।

देश के साढ़े पाँच लाख गाँवों में काम करने के लिए उद्बुद्ध युवकों की कमी नहीं है। आवश्यकता केवल समर्पण की भावना, संकल्प और निष्ठा की है।

●

प्रश्नोत्तर : ३ :

प्रश्न : क्या ग्रामसभा के ऊपर भी कोई कानूनी सत्ता होगी, जिसके द्वारा दो गाँवों के झगड़ों को नियन्त्रित किया जा सके ?

उत्तर : पहले ग्राम-स्वराज्य के मूल तत्त्व को समझना चाहिए। इस आन्दोलन द्वारा आप संघर्षमूलक समाज को बदलकर सहकारी समाज बनाना चाहते हैं। सहकार की प्राथमिक इकाई ग्रामसभा होगी। गाँव के अन्दर के झगड़े आपस में समझौते से तय करने का आपका प्रयास होगा। फिर आप एक क्षेत्रीय सभा बनायेंगे, जिससे दो गाँवों के बीच के झगड़ों को समझौते से तय करने का प्रयास होगा। जब सब गाँवों में ग्राम-स्वराज्य की स्थापना होगी, तो हर गाँव में सहकारी वृत्ति का विकास होगा। ऐसा हो जाने पर भिन्न-भिन्न गाँवों के बीच सहकार-वृत्ति पैदा करना आसान हो जायगा। क्योंकि यदि हर गाँव के लोगों की वृत्ति गाँव के आंतरिक मामले में सहकारी बनेगी तो आन्तर-गाँव के मामले में उसी वृत्ति की अभिव्यक्ति होगी। इस सबके लिए अभ्यासक्रम बनाना होगा। उसके लिए जितना समय लगेगा, उतना धैर्य रखना होगा और सतत प्रयास में लगे रहना होगा। तब तक वर्तमान कानून-आधारित समाज-व्यवस्था तो है ही। जब तक सार्वभौम इकाई पर से दहाई पर नहीं पहुँचते हैं, तब तक वहाँ पुरानी व्यवस्था

तो बनी ही रहेगी । इसीलिए ही विनोबा जिला-दान पर जोर दे रहे हैं ।

प्रश्न : ग्रामदान-आन्दोलन की गति अत्यन्त धीमी है । यह आन्दोलन आज उसी तरह संस्थाओं के कार्यकर्ता चला रहे हैं, जिस तरह महन्त या मठाधीश चलाता था । क्यों नहीं हम ही आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में लें और इसका संचालन करें ?

उत्तर : पहले 'हम' की परिभाषा होनी चाहिए। आज 'हम' का मतलब है संस्थाओं के कार्यकर्ता । आज वही लोग आन्दोलन का संचालन कर रहे हैं। आप जो 'हम' शब्द इस्तेमाल करते हैं, उसका मतलब इतना ही है कि संस्थाओं के बाहर जनता में से कुछ उद्‌बुद्ध नेता इस आन्दोलन का संचालन करें । शुरू-शुरू में यह प्रक्रिया क्रान्ति के विचार की दृष्टि से उपयोगी होगी। इससे आन्दोलन जन-आधार की ओर एक बहुत बड़ा कदम उठा लेगा। लेकिन आगे चलकर आन्दोलन के लिए इस 'हम' का भी पूर्ण निराकरण नहीं होता है, तो क्रान्ति की प्रगति रुकेगी । इस क्रान्ति का मूल उद्देश्य संचालित समाज को बदलकर स्वावलंबी समाज की स्थापना करना है। हम सामाजिक शक्ति के रूप में दंड-शक्ति के बदले सम्मति-शक्ति का अधिष्ठान करना चाहते हैं। संचालन की शक्ति अनुशासन और दण्ड की होती है । स्वावलंबन की शक्ति सहकार और सम्मति की होती है। संचालन-पद्धति में 'हम' नामधारी विशिष्ट नेता और संस्था या दल की आवश्यकता होती है। स्वावलंबन की पद्धति में नेता और दल या संस्था अनावश्यक

हैं । इतना ही नहीं, बल्कि बाधक है । क्योंकि उनके रहने पर लोगों को स्वतंत्र वातावरण में स्वस्थ परस्परावलंबन की भूमिका नहीं मिल सकेगी ।

इतिहास में अब तक जितनी क्रांतियाँ हुई हैं, उनका गहराई से विश्लेषण करने पर दिखाई देगा कि क्रान्तिकारी नेता और दल ने ही आगे चलकर क्रान्ति को धोखा दिया है । क्रान्ति जब विशिष्ट नेता के नेतृत्व में तथा संगठित दल के संयोजन में चलती है, तब जनता में क्रान्ति के लिए स्वतंत्र चिन्तन का विकास नहीं होता है और वह केवल भावनात्मक प्रेरणा से नेता और दल के पीछे चलती है । फलस्वरूप जैसे-जैसे और जिस अनुपात में क्रान्ति की सफल निष्पत्ति होती है, वैसे-वैसे वही निष्पत्ति नेता और दल के लिए निहित स्वार्थ बनते हैं और वे उसे अपने हाथ में रखने के लिए जनता पर हावी होते जाते हैं, फिर जनता उनके नीचे दब जाती है ।

यही कारण है कि विनोबा निरन्तर कहते रहते हैं कि हमारा काम शादी कराना है, गृहस्थी चलाना नहीं । अर्थात् आन्दोलन का उद्बोधन और शिक्षणमात्र हम लोगों का काम है, संचालन नहीं ।

अतएव आपके कथनानुसार फिलहाल यद्यपि यह बिलकुल जरूरी है कि आंदोलन का संचालन संस्थाओं के हाथ से निकलकर आप लोग जो समाज के अन्दर उद्बुद्ध नागरिक हैं, उनके हाथ में जाय, फिर भी वह क्रान्ति की प्रगति के लिए एक कदम मात्र होगा । आगे चलकर नये 'हम' का प्रयास यह होना चाहिए कि आप अधिक दिन आन्दोलन का वाहन न रहें,

स्थिति कल्पना-में ही रही है। समाज ने इसे मान्य नही किया। लेकिन आज का जमाना ऐसे स्थान पर पहुँच गया है, जिसके चलते सामान्य जन भी देवर्षि नारद द्वारा परिकल्पित समाज की स्थापना के बिना जिन्दा नही रह सकता।

विज्ञान की प्रगति ने दंड-शक्ति का मूल आधार जो शस्त्र-शक्ति है, उसका समूल निराकरण अनिवार्य बना दिया है। पिछले २२ साल से विश्व के सभी मुल्कों के नेता नि.शस्त्रीकरण-सम्मेलन करते रहे हैं, लेकिन नि:शस्त्रीकरण तो दूर की बात है, हर मुल्क शस्त्रीकरण में तेजी से आगे बढ़ रहा है। अर्थात् आज पूरे विश्व में उत्कट विसंगति की परिस्थिति चल रही है। मनुष्य चाहता है नि:शस्त्रीकरण, लेकिन करता है शस्त्रीकरण का प्रसार। ऐसा क्यों होता है? क्या दुनिया का नेता ईमानदार नहीं है? या वे जो सोचते है, उसमें गंभीरता नहीं है? वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। वे गंभीरता तथा ईमानदारी से ही सोचते है। क्योंकि वे स्पष्ट देखते है कि इस अणु-शक्ति के युग में अगर शस्त्रीकरण होता चला गया तो वे शस्त्र गोदामों मे बेकार पड़े नही रहेगे। किसी-न-किसी दिन अपने स्वधर्म के अनुसार काम करेंगे। अर्थात् उनका विस्फोट होगा। फिर तो पूरी सृष्टि का ही नाश हो जायगा।

अतएव नि.शस्त्रीकरण इस युग की अनिवार्य आवश्यकता हो गयी है। अब यह केवल संतों की या ऋषियों की कामना का विषय नहीं रह गया है। इसलिए अब मनुष्य आज नहीं तो कल नि:शस्त्रीकरण की आवश्यकता को पूरा करेगा ही।

निःशस्त्रीकरण के साथ-साथ सेना का विघटन करना पड़ेगा और सैनिक शक्ति के विघटन से दंड-शक्ति की शक्ति समाप्त हो जायगी, फिर आप जिस दंड-शक्ति के सहारे समाज के विकारों के नियंत्रण की बात सोचते है, वह शक्ति रहेगी कहां? इसलिए उसके विकल्प में सम्मति और सहकार-शक्ति का संगठन करना ही पड़ेगा, क्योंकि मनुष्य को जिन्दा रहने का अब दूसरा मार्ग है ही नही। यही कारण है कि आज सामान्य जन भी संत विनोबा के आह्वान पर सम्मति से स्वामित्व-विसर्जन तथा ग्राम-परिवार बनाने का संकल्प कर रहा है। भविष्य में समाज में जो विकार का अस्तित्व रहेगा, उसे शिक्षण-प्रक्रिया के माध्यम से संस्कृति का विकास तथा संगठन कर उसका नियंत्रण करना होगा। इस प्रकार भावी समाज की रचना की गति-शक्ति शिक्षण होगी, न कि दंड, और चूंकि यह सामान्य जन की जिन्दगी की अनिवार्य आवश्यकता होगी, इसलिए वह व्यवहार्य भी होगा।

प्रश्न: ग्राम-सभा से शुरू करके जब तक राष्ट्रीय सभा तक नयी पद्धति का संगठन पूरा नहीं हो जायगा, तब तक पार्लियामेण्ट, एसेम्बली और जिला-परिषद् तो पुरानी प्रतिद्वन्द्वितामूलक पद्धति से ही चलते रहेंगे। उनके वोटर ग्राम-सभा के सदस्य ही होंगे। ऐसी हालत में उनकी दलबन्दी का बुरा असर ग्राम-सभा पर नहीं पड़ेगा क्या? फिर ग्राम-सभा टिकेगी कैसे?

उत्तर: अगर ग्रामदान के साथ ग्राम-सभा का निर्माण इस चेतना के साथ होगा कि हमें नयी क्रान्ति करनी है और वर्तमान प्रतिद्वन्द्वितामूलक तथा संचालित समाज की पद्धति

को बदलकर सहकारितामूलक स्वावलंबी समाज की स्थापना करनी है, तो वर्तमान समाज की दलगत प्रतिद्वन्द्विता का बुरा असर गाँव पर नही पड़ेगा। वैसी हालत में गाँव के लोग अपनी क्रान्ति की रक्षा के लिए जागृत रहेगे और अपने लिए कोई-न-कोई पद्धति निकाल लेगे। ग्राम-सभा सर्वानुमति से निर्णय कर भिन्न-भिन्न दलों के नेताओं तथा उम्मीदवारो से कह देगी कि वे अलग-अलग गाँव मे कन्वेसिग नहीं कर सकेंगे। सब पार्टियों को किसी एक दिन का समय दे देगे, ताकि उनके प्रतिनिधि एक ही प्लैटफार्म पर आकर अपने-अपने दल की नीति समझा दें। फिर ग्राम-सभा गाँव के वोटरों के लिए यह प्रस्ताव कर सकती है कि वे उम्मीदवारों की नीति तथा चरित्र को देखकर अपने पसन्द के व्यक्ति को, दल के सदस्य के नाते नहीं, बल्कि व्यक्तिगत हैसियत से वोट दे। ऐसा करने में अगर एक व्यक्ति का चरित्र और दूसरे दल की नीति पसन्द आये, तो चरित्रवान् व्यक्ति को प्राथमिकता देनी चाहिए। क्योंकि ग्राम-स्वराज्य की क्रान्ति दलगत राजनीति को विघटित करना चाहती है।

प्रश्न : गाँव की भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व तो ग्रामदान में समाप्त हो जाता है, पर सम्पत्ति की व्यक्तिगत मालिकी समाप्त नहीं होती है, जिससे समाज में सम्पत्ति बढ़ाने की होड़ तो रहेगी ही, फलस्वरूप शोषण बढ़ता ही रहेगा ?

उत्तर : सम्पत्ति और पूँजी दो चीजें है। जिस सम्पत्ति को लगाकर नयी सम्पत्ति पैदा की जाती है, उसे पूँजी कहते है। जिस सम्पत्ति का केवल उपभोग किया जाता है, उसे सम्पत्ति

कहते हैं। पूँजी लगाकर व दूसरे मजदूर को खटाकर जब नयी सम्पत्ति का उत्पादन किया जाता है, तब शोषण होता है। वैसे अरबों रुपये की सम्पत्ति का उपयोग अगर पूँजी के रूप में यानी मुनाफा कमाने के लिए नहीं होता है तो वह शोषण का साधन नहीं बनती है। इसीलिए समाजशास्त्र का सूत्र यह है कि उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत मालिकी हटाकर उसे सामाजिक मालिकी में सौंपना है। जमा की हुई सम्पत्ति जब ऐसे उद्योगों मे लगेगी, जिनके लिए मजदूर रखना जरूरी होगा, तब उसे भी धीरे-धीरे ग्राम-सभा की मालिकी में रखना होगा।

लेकिन आज आपने जो ग्रामदान का संकल्प किया है, वह शोषण-मुक्त समाज-रचना का प्रारम्भिक कदम मात्र है। सिद्धि पर से साधना का प्रारम्भ नहीं होता। अभी तो आपने एक ही कदम उठाया है। अब आपको सामुदायिक साधना के मार्ग पर आगे चलना होगा। इस साधना की प्रगति परिस्थिति और मन स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न गाँव की भिन्न-भिन्न होगी। लेकिन दिशा एक ही होगी। जब सब लोग यह संकल्प करते हैं कि गाँव के सब लोगों के विकास का प्रयास करेंगे तो संकल्प-पूर्ति की आवश्यकता ही शोषण द्वारा सम्पत्ति-वृद्धि की वृत्ति घटती जायगी। वृत्ति बदलेगी तो कृति भी बदलेगी।

प्रश्न : राजतंत्र से लोकतंत्र और समाजवाद की ओर जाने में देखा गया है कि लोगों की मनोवृत्ति नहीं बदली। जब इतनी महान् क्रान्तियों द्वारा भी ऐसा नहीं हो सका, तो ग्राम-स्वराज्य के आन्दोलन द्वारा मनोवृत्ति बदलेगी, ऐसी आशा कैसे की जा सकती है ?

उत्तर : लोकतंत्र या समाजवाद की जो क्रान्तियाँ हुईं, उनकी प्रक्रिया ग्राम-स्वराज्य की क्रान्ति की प्रक्रिया से भिन्न थी। उन क्रांतियों की प्रक्रिया सत्ता के दबाव से समाज की परिस्थिति मे परिवर्तन लाने की थी। उन क्रान्तियों का हमला पुरानी मनोवृत्ति पर नही, बल्कि पुराने राजनैतिक और सामाजिक ढाँचे पर था, अतः उनसे ढाँचा बदला, मनोवृत्ति नहीं। ग्राम-स्वराज्य की क्रान्ति की प्रक्रिया लोक-शिक्षण के द्वारा वृत्ति बदलने की है। पुरानी क्रान्तियों में यदि प्रारम्भ से ही वृत्ति बदलने की कोशिश की गयी होती तो शायद इस आन्दोलन की जरूरत न पड़ती। वृत्ति-परिवर्तन से जब कृति बदलती है तो वह केवल स्थायी ही नही होती है, बल्कि जमाने की प्रगति के साथ प्रगतिशील भी होती है। अतएव आपको समझ लेना होगा कि इस क्रान्ति को एक बार संगठित करके निश्चिन्त नहीं बैठ सकते। वृत्तिपरिवर्तन की क्रान्ति कोई घटना नहीं होती, बल्कि वह नित्य आरोहण की प्रक्रिया है। काल-पुरुष के नित्य प्रवहमान होने के कारण परिस्थिति में नित्य परिवर्तन होता रहता है। इसलिए मनुष्य को उसके अनुसार अपने को निरन्तर बदलने की आवश्यकता है।

इस प्रकार इस क्रान्ति की दोहरी प्रक्रिया होगी। शिक्षण-प्रक्रिया से वृत्ति बदलने की तथा सम्मति से सामाजिक ढाँचा बदलने की। यह दोनों परिवर्तन एक-दूसरे की प्रगति में सहायक होंगे। लोकतंत्र और समाजवाद की क्रान्तियों मे केवल प्रक्रिया की भूल हुई। इतना ही नहीं, बल्कि सफल क्रान्ति के संचालन

में भी बुनियादी गलती हुई। गांधीजी ने कहा था कि साध्य और साधन की एकरूपता आवश्यक है। यह बात उन क्रान्तियों के नेताओं को सूझी नहीं थी, इसलिए उन्होंने क्रान्ति के लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधन में एकरूपता साधने की आवश्यकता को नहीं माना और न क्रान्ति के विचार के अनुसार उसकी सचालन-पद्धति मे एकरूपता साधने की जरूरत महसूस की। लोकतांत्रिक क्रान्ति के नेताओं ने उसे चलाने में अपने विचार के अनुसार नयी पद्धति खोजने का कोई प्रयास न करके राजतंत्र यानी एकतंत्र की पद्धति को पूरा-का-पूरा अपना लिया। राजतंत्र में समाज की जिम्मेदारी राजा की होती है। राजा ने इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए एक अनुकूल पद्धति का आविष्कार किया था। उसने अपने पास राज्य के श्रेष्ठ व्यक्तियों को बुलाकर मन्त्रिमंडल बनाया। मंत्रिमंडल की सलाह से समाज की व्यवस्था तथा कल्याण-कार्य के संचालन के लिए अपने द्वारा संचालित नौकरशाही का संगठन किया तथा अपने निर्णयों का अमल कराने के लिए एक मजबूत सैनिक शक्ति का संगठन किया। इस प्रकार राजतांत्रिक यानी एकतांत्रिक पद्धति में शक्ति सैनिक की और यंत्र केन्द्र-सचालित नौकरशाही का होता है।

लोकतंत्र का विचार लोक द्वारा अपने-आप अपना समाज चलाने का है। उसका विचार सिर फोड़कर निर्णय करने का नहीं, बल्कि सिर गिनकर निर्णय करने का है। लोकतंत्र दबाव (कोअर्शन) को छोड़कर मनाव (कन्सेन्ट) का अधिष्ठान है। स्पष्ट है कि उसकी शक्ति, सम्मति और यंत्र लोक-सम्मति-

आधारित तंत्र ही हो सकता है। नेताओं ने अपने विचार के अनुसार सामाजिक शक्ति और यंत्र के आविष्कार की खोज में लगने की हिम्मत नहीं की और उन्होंने पुरानी बनी-बनायी पद्धति द्वारा नये विचार को चलाने का आसान तरीका अपनाया, शायद व्यवहारवाद के नाम पर। फलस्वरूप लोकतंत्र में राजा के स्थान पर केन्द्र में अवस्थित पूँजीपति मुख्य सचालक बन गया और आज लोकतंत्र का लोक पूंजीवादी शोषण से कुचल रहा है। वस्तुत: लोकतंत्र के नाम पर आज जो कुछ चल रहा है, वह लोक-पसन्द तंत्र मात्र है, लोकतत्र नही।

उसी तरह समाजवादी नेताओं ने उत्पादन का प्रकार और साधन वही रखा, जो पूंजीवाद मे था और समाज के सचालन की पद्धति भी वही रखी, जो राजतंत्र मे रही है। फलस्वरूप समाजवाद का समाज तानाशाही सैनिकवाद के नीचे दब गया। ग्राम-स्वराज्य का आन्दोलन विचार-परिवर्तन के साथ पद्धति-परिवर्तन की भी क्रान्ति है। यह पद्धति प्रत्यक्ष लोक-आधारित और लोकमूलक है। इस प्रकार यह क्रान्ति वृत्ति-परिवर्तन तथा पद्धति-परिवर्तन की होने के कारण इसकी विफलता की गुंजाइश कम है।

प्रश्न : आज हर गॉव में विषमता का साम्राज्य है। और आप सर्वानुमोदन की बात कर रहे हैं। क्या विषमता के रहते सर्वानुमोदन सध सकता है ?

उत्तर : आरोहण की प्रक्रिया में चलना वही से शुरू करना पड़ेगा, जहाँ पर कोई मनुष्य मौजूद हो। समाज में से द्वंद्व और संघर्ष का निराकरण करना यदि जरूरी हो, तो सर्वसम्मति और

सर्वानुमति की साधना आवश्यक है। और उसका विकास आप आज जहाँ है, वहीं से करना होगा। विषमता का निराकरण और सर्वानुमति की साधना साथ-साथ चलानी होगी। सारी जमीन की मालिकी ग्राम-सभा को सौंप देना, बीघा में एक कट्ठा भूमिहीनों को देना, आमदनी का एक निश्चित हिस्सा ग्रामकोष में अर्पित करना आदि प्रक्रिया से आप विषमता के निराकरण के मार्ग पर कदम रख देते हैं। साथ-साथ पंचायत के चुनाव में सर्वानुमति के सिद्धान्त को मानकर और भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों को आम राय से चलाकर सर्वसम्मति की ओर आगे बढ़ते हैं। पहले एक पूरा होगा, तब दूसरा शुरू करेंगे, इसी तरह आरोहण की प्रक्रिया चलेगी।

प्रश्न : आपका कहना है कि लोकतंत्र के विचारवाले समाज को एकतंत्र की पद्धति से चलाने के कारण असफलता मिली। मैं मानता हूँ कि लक्ष्य के अनुसार मार्ग तथा विचार के अनुसार पद्धति होनी चाहिए। एकतंत्र की पद्धति और लोकतंत्र की पद्धति में क्या फर्क होना चाहिए, बता सकेंगे?

उत्तर : मुख्य प्रश्न यह है कि सिर-दर्द यानी जिम्मेदारी किसकी? एकतंत्र में जिम्मेदारी एक की होती है, इसलिए समाज की मुख्य प्रतिभा और शक्ति को एक जगह पुञ्जीभूत करना होता है और वहाँ से पूरे समाज को प्रकाश मिलता है। लोकतंत्र में सिर-दर्द यानी जिम्मेदारी लोक की होती है, इसलिए समाज की मुख्य शक्ति लोक की इकाई पर रहती है और वहाँ से पूरे विश्व को प्रकाश मिलता है।

एकतंत्र का संगठन टार्च लाइट जैसा होता है। टार्च लाइट में केन्द्र-स्थित वल्व में समस्त वोल्टेज एकत्र किया जाता है और वहाँ से रोशनी नीचे की ओर फोकस की जाती है। रोशनी जैसे-जैसे नीचे जाती है, वैसे-वैसे धीमी होती जाती है और अन्त में लोक की इकाई तक जाते-जाते करीब-करीब अन्धकार हो जाता है। लोकतंत्र की पद्धति सामुद्रिक वृत्ताकार (ओशनिक सर्किल) होता है। तालाव के पेट में से आपने वबूला फूटते देखा होगा। जहाँ बबूला फूटता है, वहाँ उसकी शक्ति अधिकतम होती है। उसमें से एक वाहर का वृत्त वनता है। इसी तरह वृत्त के वाद वृत्त वनते हुए पूरे तालाव में वह विलीन हो जाता है। एक वृत्त से दूसरे वृत्त की शक्ति तेज-धीमी होती है।

लोकतंत्र में मुख्य शक्ति ग्राम-स्वराज्य के रूप में संगठित होगी। उसी शक्ति में से क्षेत्रीय संगठन के वृत्त का प्रादुर्भाव होगा। उसी क्रम से फैलते-फैलते विश्व में विलीन होगा। एकतंत्र में जहाँ राज्य की मुख्य प्रतिभा और शक्ति लोक-संचालक के रूप में राष्ट्रीय केन्द्र में एकत्र की जाती है, वहाँ लोकतंत्र में मुख्य प्रतिभा को लोक-शिक्षक के रूप में ग्राम-इकाइयों में फैली हुई रहना चाहिए, ताकि वे लोकतंत्र के लोक को निरन्तर उद्वोधित, प्रशिक्षित तथा सुसंस्कृत करते रहें, जिससे लोग अपनी जिम्मेदारी और शक्ति के प्रति सतत जागरूक रह सकें।

प्रश्न : अति प्राचीनकाल से मानव-समाज की सभ्यता

और संस्कृति की प्रगति दंड-शक्ति के सहारे ही हुई है। अगर दंड-शक्ति न रहती, तो मनुष्य अब तक अन्तर्हिंसा की पाशविक संस्कृति में ही पड़ा रहता। सभ्यता के विकास से आज जिस शान्तिमय समाज का दर्शन हो रहा है, वह न होता। दंड-शक्ति के निराकरण से सभ्यता की प्रगति ही रुक जाने का भय नहीं है क्या?

उत्तर : आपने पाशविक सभ्यता का अच्छा प्रसग उठाया है। आप कहते हैं कि यदि दण्ड-शक्ति न होती तो मनुष्य जंगल के जानवर जैसा एक-दूसरे की हिंसा में लगा रहता। और दण्ड द्वारा शान्तिमय समाज की स्थापना से सभ्यता का विकास हुआ है। निःसन्देह दंड-शक्ति ने मनुष्य को सभ्यता के विकास में आगे बढ़ाया है। लेकिन कितना आगे बढ़ाया है? जंगल के जानवर के स्तर पर से सरकस के जानवर के स्तर पर पहुँचाया है, इतना ही न? सरकस में जानवर आपस में हिंसा नहीं करता है। वह समाज शान्तिमय ही होता है, लेकिन वह शांति रखता है रिंग मास्टर की चाबुक के डर से। रिंग मास्टर हमेशा चाबुक का इस्तेमाल नहीं करता है, वह उसे एक स्टैण्ड पर खड़ा रखता है। लेकिन उस चाबुक के अस्तित्व का एहसास ही वहाँ के पशुओं को शान्त रखता है।

आप जिस उन्नत सभ्यतावाले समाज का बयान कर रहे हैं और जिस शान्तिमय समाज की इतनी तारीफ कर रहे हैं, वह उपर्युक्त सरकसी समाज से भिन्न किस माने में है? वहाँ रिंग मास्टर की चाबुक के डर से पशु शान्त रहता है और

आप दण्ड-शक्ति की चाबुक की डर से। अर्थात् आज भी मनुष्य पाशविक संस्कृति से निकलकर मानवीय संस्कृति मे पहुँच नही पाया है। वह तभी पहुँचेगा, जब समाज दड-शक्ति से नही, बल्कि सम्मति-शक्ति से संचालित होगा।

लेकिन वैसी संस्कृति अपने-आप पैदा नही होगी। उसके लिए सामाजिक और मानसिक साधना के अभ्यास-क्रम की आवश्यकता है। मानसिक अभ्यास-क्रम सामाजिक शिक्षा की प्रक्रिया है। अब तक शिक्षा, दीक्षा और साधना व्यक्तिगत क्षेत्र में मर्यादित रही है। उसे पूरे समाज मे व्याप्त करना है। पूरे समाज को शिक्षा के कार्यक्रम मे शामिल तभी किया जा सकता है, जब समाज के सभी कार्यक्रमों को शिक्षा का माध्यम बनाया जा सके, क्योंकि ऐसा किये बिना कुछ लोगों को उत्पादन आदि आवश्यक काम के लिए छोड़ना पड़ेगा।

समाज के समस्त कार्यक्रम शिक्षा के माध्यम तभी बन सकेंगे, जब एक-एक गाँव को एक सामुदायिक इकाई के रूप में संगठित किया जायगा, ताकि प्रत्येक कार्यक्रम सुव्यवस्थित योजना से चलाया जा सके। समाज की व्यवस्था भी सचालन-पद्धति से न चलाकर सहकार के आधार पर स्वावलम्बी पद्धति से चलानी होगी।

व्याकरण में तीन पुरुष होते है—उत्तम, मध्यम और अन्य। स्वावलंबन की पद्धति मे सामाजिक व्यवहार उत्तम और मध्यम पुरुष के बीच ही रहता है, लेकिन सचालन-पद्धति में वह अन्य पुरुष के मार्फत होता है। अन्य पुरुष का किसीसे सम्बन्ध या रिश्ता नहीं रहता। इसलिए उस पद्धति में से स्वार्थ,

लापरवाही, भ्रष्टाचार आदि आसुरी-वृत्ति का विकास होता है। समाज में से रिंग मास्टर की चाबुक के निराकरण के लिए यह आवश्यक है कि समाज-व्यवस्था की प्रक्रिया आसुरी वृत्ति का पोषण न दे। स्वावलम्बन-पद्धति से उत्तम और मध्यम पुरुष के बीच प्रत्यक्ष व्यवहार के कारण परस्परावलम्बन आवश्यक होता है और यह आवश्यकता परस्पर स्नेह-सम्बन्ध का निर्माण करती है। यह सम्बन्ध मनुष्य की देव-वृत्ति के विकास में सहायक होता है।

इस प्रकार दुहरी प्रक्रिया से आप समाज को पाशविक संस्कृति से निकालकर मानवीय संस्कृति पर ले जा सकेंगे। ग्रामदान उसकी व्यावहारिक योजना है।

आप कह सकते हैं कि यह सब बातें ऋषियों की कल्पना और संतों की आकांक्षामात्र है। आप यह भी कह सकते हैं कि आज के शान्तिमय समाज की शान्ति यद्यपि सरकस की शान्ति हो सकती है, लेकिन आज तो वही हमारी सभ्यता है और अगर आदर्श के पीछे हम दौड़ेंगे तो जो कुछ है, वह भी खो देंगे। लेकिन, जैसा कि पहले मैंने कहा है, इस विज्ञान के युग में दण्ड-शक्ति टिक नहीं सकती। आप भले ही रिंग मास्टर की चाबुक को स्वीकार कर लें, लेकिन इस विज्ञान-युग में वह चाबुक आपके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करेगी, वह आपको ही समाप्त कर देगी। इस युग में निःशस्त्रीकरण की मांग केवल संतों की आकांक्षा नहीं है, बल्कि सामान्य जन की आवश्यकता बन गयी है। शस्त्रों के बिना दंड-शक्ति की शक्ति कहां रहेगी? इसलिए, शान्तिमय समाज कायम रहे, इसकी पूर्ति के लिए दंड-शक्ति के विकल्प में दूसरी

सामाजिक शक्ति को अधिष्ठित करना होगा, जो सहकार और सम्मति-शक्ति के रूप मे ही विकसित हो सकती है तथा संकल्प एवं योजनापूर्वक उसका विकास करना ही पड़ेगा।

प्रश्न : इंग्लैण्ड में लोग अधिक शिक्षित हैं, इसलिए वहाँ का लोकतंत्र अधिक सफल है। हमारे देश में शिक्षा की कमी से वह असफल रहा। तो जो शक्ति ग्रामदान में लगायी जा रही है, वह यदि शिक्षा के विकास में लगायी जाय, तो लोकतंत्र की दिशा में अधिक सफलता मिलेगी। क्या आप ऐसा नहीं मानते है?

उत्तर : शिक्षा-मात्र से लोकतंत्र सफल नहीं होता। फ्रांस और जर्मनी में इंग्लैण्ड से अधिक शिक्षित लोग है, लेकिन वहाँ लोकतंत्र की सफलता तो दूर, वह टिक भी नहीं सका। शिक्षा अपने-आप किसी सामाजिक पद्धति की द्योतक नहीं होती है। सामान्य शिक्षा एक चीज है और सामाजिक सिद्धान्त का अभ्यास दूसरी चीज है। अगर लोकतंत्र की सफलता इष्ट है तो उस विचार का शिक्षण लोकतंत्र की स्थापना के प्रयास के माध्यम से ही करना होगा, क्योंकि लोकतंत्र कोई वैधानिक ढाँचा नहीं है, वह जीवन-दृष्टि है। संसार में जहाँ कहीं वैधानिक ढाँचे में हेर-फेर करके लोकतंत्र की स्थापना का प्रयास किया गया है, वहाँ वह असफल रहा है। जिस देश में आज लोकतंत्र सफल है ऐसा आप मानते हैं, वहाँ का तंत्र भी लोक-पसन्द तंत्रमात्र है, लोकतंत्र नहीं। वहाँ के तंत्र का संचालन लोक द्वारा न होकर लोक के लिए

होता है। यही कारण है कि स्वराज्य के आन्दोलन के दिनों में गाधीजी हमेशा कहते थे कि इंग्लैण्ड, अमेरिका, जर्मनी आदि मुल्कों में स्वराज्य नहीं है।

लोकतंत्र में 'लोक' मुख्य तत्त्व है, 'तंत्र' गौण है। वह लोक के हाथ का औजार मात्र है। इसलिए लोकतंत्र का विकास लोकमूलक प्रक्रिया से ही हो सकता है, तंत्रमूलक नहीं। मैंने अभी एकतत्र और लोकतंत्र के ढांचों में क्या फर्क है, यह विस्तार से समझाया है।

इग्लैंड के लोकतत्र में और हमारे देश के लोकतंत्र में लोक-पसन्द तत्र के पहलू पर भी बहुत अन्तर है। हर चीज का विकास देश, काल और पात्र की प्रतिभा तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ही हो सकता है, इसलिए लोकतंत्र के सन्दर्भ में इंग्लैंड और भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अन्तर समझ लेना चाहिए। पाश्चात्य देशों में राज्यतंत्र को उखाडने के लिए लोकतांत्रिक क्रान्तियाँ हुई। इसके लिए वहाँ के विचारकों ने बरसों से अनुकल लोक-चेतना जागृत की। जनता मे लोकतांत्रिक चतना को उद्‌बोधित किया। जनता ने उसी चेतना की प्रेरणा से राजतत्र तथा सामन्तवाद के मूल्यों, और संस्थाओं पर भी आघात किया और उसे परास्त किया। अतः लोकतांत्रिक जन-जागरण तथा उसके मूल्य और संस्थाओं की मान्यता द्वारा लोकतंत्र की स्थापना हुई।

भारत में ऐसा नही हुआ। ससार में पहले सभी मुल्कों में सामन्तवाद रहा है, भारत में भी था; लेकिन पाश्चात्य

देशों में लोकतंत्र के विकास का जो प्रयत्न हुआ, उसकी हवा भारत में पहुँचने से पहले ही यहाँ साम्राज्यवाद की स्थापना हो गयी। अंग्रेजी शासन में योजनापूर्वक भारतीय सामन्तवाद से देश का दिमाग रईसी ही बना रहा। दूसरा फर्क यह था कि हमारे देश में वर्ण-व्यवस्था के कारण राजनैतिक रईसी से भिन्न एक सामाजिक रईसी बद्धमूल रही है, जो आज भी है। यह इंग्लैंड में कभी नहीं रही। इंग्लैंड मे लोकतत्र के लिए प्रत्यक्ष लोक-चेतना ने जब वहाँ के लोकतंत्र का निर्माण किया तो वहाँ के सार्वजनिक कर्मचारियो का संगठन उसी मूल्य के आधार पर हुआ। पर यहाँ ऐसा नहीं हुआ। यहाँ अंग्रेजी शासन में वे हुकूमत के प्रतिनिधि होने के नाते हाकिम रहे और यह विरासत हमें मिली। आज भी वे वैसे ही है। जनता भी उन्हें उसी रूप मे मान्य करती है। पश्चिम के पूँजीवाद का संगठन लोकतांत्रिक क्रान्ति के पेट में से निकला था। वे सामन्तवाद के खिलाफ क्रान्ति के साथी थे, तो उनमें भी लोकतांत्रिक मूल्यों का असर है। लेकिन इस देश में, ब्रिटिश साम्राज्यवाद मे, पूँजीवाद को अपने शोषण के एजेण्ट के रूप मे ही इस्तेमाल किया था तो उनका मानस भी साम्राज्यवादी अर्थात् सामन्तवादी ही बना। इस प्रकार भारत के तंत्र पर चतुर्विध रियासती तत्वों का कब्जा रहा है—सामन्तवाद की राजनैतिक रईसी, वर्ण-व्यवस्था की सामाजिक रईसी, नौकरशाही की हुकूमती रईसी तथा पूँजीवादी आर्थिक रईसी का।

अंग्रेज गये, मुल्क को इन चतुर्विध तत्त्वों के हाथ में देकर,

तंत्र इस अतिसंगठित चतुस्तत्त्वों के हाथ में और लोक सदियों की गुलामी के फलस्वरूप, शोषण और निर्दलन से पिसा हुआ, अचेतन-असहाय ! उसका स्वरूप विध्वंस्त मानव का, मलवा का रूप ही रहा है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हमने अपने लोकतंत्र की घोषणा की और लोक को उद्बोधित, प्रशिक्षित तथा सुसंगठित करने की राह को छोड़कर चतुस्तत्व के कब्जे में अवस्थित तंत्र के सहारे लोकतंत्र के निर्माण का प्रयास किया। उसकी परिणति प्रत्यक्ष है। वस्तुतः इसी परिस्थिति को समझकर गांधीजी ने लोकतंत्र के निर्माण के लिए तंत्र को छोड़कर लोक में प्रवेश करने की सलाह नेताओं को दी थी। दुर्भाग्य से वैसा नहीं हुआ।

आज जब विनोबा ग्रामदान की प्रक्रिया द्वारा लोकमूलक पद्धति से लोकतंत्र के निर्माण का प्रयास कर रहे हैं, तो देश के जितने लोग उसकी सफलता चाहते हैं, उन्हें इस काम में लगना चाहिए।

प्रश्न : आपने देश की जनता को अचेतन कहा है, लेकिन इस देश के इतिहास ने भी सन् १८५७ से लेकर १६४२ तक जनता में चेतना जागृत की है। विशेषकर गांधीजी के नेतृत्व में उसका व्यापक उद्बोधन भी हुआ है। फिर कैसे कहा जायगा कि इस देश में लोक-चेतना का जागरण नहीं हुआ ? क्या सन् '४२ की क्रान्ति फ्रांस के आन्दोलन से कम व्यापक थी ?

उत्तर : इस देश के इतिहास की वह चेतना लोकतांत्रिक-मूल्यों की न होकर आजादी हासिल करने की थी। उस समय जनता कहती भी थी कि अंग्रेजी राज हटाकर गांधी बाबा का राज कायम करना है। उस चेतना के भरोसे आप लोकतंत्र का अधिष्ठान नहीं कर सकते। अगर मेवाड़ की जनता में मुगल-साम्राज्य से मुक्ति की चेतना जगी थी, तो उस चेतना के लिए राणा प्रताप की विजय काफी थी। उसी तरह हमारे देश में जिस लोक-चेतना का निर्माण हुआ था, उसके लिए स्वदेशी राज्य का होना काफी है। हो सकता है, सन् '४२ की क्रान्ति फ्रांस की क्रान्ति से अधिक व्यापक जरूर थी, लेकिन '४२ की क्रांति की प्रेरणा विदेशी राज्य से मुक्ति की थी, जहाँ फ्रांस की क्रान्ति की प्रेरणा लोकतंत्र की स्थापना की थी। भिन्न लक्ष्य की क्रान्ति की निष्पत्ति भिन्न होती है, इसे समझना चाहिए।

प्रश्न : आप लोग ग्रामदान से प्रखंडदान और प्रखण्डदान से जिलादान की तरफ दौड़ते चले जा रहे हैं। लेकिन कहीं कुछ बनता दिखाई नहीं देता है। यह न करके यदि आप दो-चार गाँव भी बनाकर आदर्श प्रस्तुत करते तो उसकी प्रेरणा से दूसरा गाँव भी ग्रामदान में शामिल होता। ऐसा न कर आप केवल विचार की उड़ान भरते हैं। नतीजा यह होता है कि आपके हाथ कुछ भी नहीं आता।

उत्तर : आदर्श गाँव का नमूना तब पेश किया जा सकता है, जब पुरानी मान्यता के अनुसार ही गाँव में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों

के निर्माण की बात होती है। लेकिन यह आन्दोलन समाज की मान्यता-परिवर्तन का है। दंड-आधारित राज्य-शक्ति की मान्यता के स्थान पर सम्मति-आधारित लोक-शक्ति की मान्यता कायम करनी है। आज लोक-निष्ठा राज्य-शक्ति यानी सैनिक-शक्ति पर है। ग्रामदान की क्रान्ति उसे बदलकर लोक-संकल्प की शक्ति पर निष्ठा कायम कराना चाहती है। पूरे समाज की निष्ठा कुछ हो और एक गाँव की निष्ठा बदल जाय, यह सम्भव नही है। अगर खेती में सुधार, आर्थिक उन्नति आदि विकास का काम करना होता तो उसके लिए सरकारी विकास-योजनाएँ काफी थीं। गांधी-विनोबा जैसे महापुरुषों की आवश्यकता नही थी। ऐसे द्रष्टा पुरुषों की प्रेरणा इसलिए आवश्यक है कि सामाजिक निष्ठा बदलने के लिए पूरे समाज पर एक साथ प्रभाव-विस्तार की जरूरत है। उसकी प्रक्रिया व्यापक अभियान की ही हो सकती है।

व्यापक अभियान द्वारा सामाजिक मान्यता मे कुछ परिवर्तन सध जाने पर भी उस विचार का आदर्श गाँव बनाने का कोई सन्दर्भ नही होता है। हम वास्तविक लोकतंत्र की बुनियाद डालना चाहते है। किसी संत, महात्मा या अनुभवी और आदर्श ग्राम-सेवक द्वारा अगर आदर्श गाँव बनाया भी जा सके तो वह उनकी कल्पना की प्रतिमा बनेगी, न कि लोकतंत्र के इमारत की बुनियाद।

यही कारण है कि विनोबाजी से जब पूछा जाता है कि ग्राम-स्वराज्य चलाने के लिए गाँव में योग्य व्यक्ति कहाँ? तो

कहते हैं कि वे गाँव में योग्य 'व्यक्ति-राज्य' नहीं, बल्कि 'ग्राम स्वराज्य' लाना चाहते हैं। ग्राम-स्वराज्य में गाँव के सब लोग मिलकर यदि यह तय करते हैं कि गाँव में आग लगायी जाय तो लगायेंगे।

देश के ५॥ लाख गाँवों में दूसरों का भरोसा छोड़कर यदि आत्मचिन्तन का अधिष्ठान हो जाय, लोकतन्त्र का लोक अगर उद्‌बुद्ध, सचेत तथा स्वावलम्बी हो जाय, उस प्रक्रिया में अगर पाँच-सात हजार गाँव जल भी जायँ और फलस्वरूप देश में वास्तविक लोकतंत्र का अधिष्ठान हो जाय तो वह कोई महँगा सौदा नहीं होगा। गाँव तो वैसे भी जलता रहता है। इस प्रक्रिया से जले हुए गाँव पूरे समाज को लोक-शिक्षण का पाठ पढ़ायेंगे।

प्रश्न : आजकल समाज में उद्दंडता बढ़ गयी है। कोई अनुशासन नहीं रहा। इस कारण समाज में व्यापक अशान्ति फैल गयी है। ऐसी स्थिति में आप लोग दंड-मुक्ति का जो विचार फैला रहे हैं, वह क्या अग्नि में घृताहुति डालने जैसा काम नहीं है ?

उत्तर : हम तो उसी परिस्थिति का निराकरण करने में लगे हुए हैं। आपको इस परिस्थिति का कारण खोजना होगा। आज समाज में वस्तुस्थिति और मनःस्थिति में उत्कट विसंगति पैदा हो गयी है, जिसके कारण समाज के चिन्तन में किसी किस्म का मानसिक सन्तुलन नहीं रह गया है। जब वस्तुस्थिति और मनःस्थिति में विसंगति पैदा होती है, तब प्रगति रुकती

है। प्रकृति चंचला है, इसलिए प्रगति रुकने पर अधोगति अवश्यम्भावी है। इसका दर्शन आपको हो रहा है। समाज में मुख्यतः तीन प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं :

१. एकतंत्रीय (फासिस्टवादी, सामन्तवादी या सैनिकवादी)
२. लोकतंत्रीय
३. समाजवादी

आज दुनिया में एकतंत्र की कोई प्रतिष्ठा नहीं है और न तो लोग उसे वांछनीय ही मानते हैं। पूरे विश्व के लोग लोकतंत्र या समाजवाद को ही मान्य करते हैं। लोकतंत्र के विचार ने मनुष्य के हृदय में साम्य, मैत्री और स्वतंत्रता की आकांक्षा का निर्माण किया है और समाजवाद ने शासन-मुक्त समाज की। अर्थात् दोनों विचारों ने इन्सान के अन्दर स्वतंत्रता की मनःस्थिति पैदा की है। लेकिन वस्तुस्थिति उससे उलटी है। मैंने पहले कहा है कि आज के लोकतांत्रिक समाज में कल्याणकारी राज्यवाद के नाम से तथा सैनिक संचालन-पद्धति के कारण समाज पर दिन-ब-दिन अधिकारवाद पराकाष्ठा पर पहुँच रहा है। साथ ही समाजवादी मुल्क का समाज सैनिकतंत्र के नीचे दब रहा है। इस प्रकार आज के समाज में एक ओर स्वतंत्रता की मनःस्थिति दिन-ब-दिन विकास के पथ पर चल रही है। समाज-व्यवस्था में सत्ता और अधिकार की परिस्थिति दिन-ब-दिन अधिक सख्ती के साथ संगठित होती जा रही है। अधिकार स्वतंत्रता की आकांक्षा का स्वधर्म स्वतंत्रता को कुण्ठित करने का ही होता है। मनःस्थिति व

परिस्थिति के बीच की यह स्थिति ही अशांति की जननी है।

ग्रामदान-आन्दोलन से हम मनःस्थिति के अनुरूप वस्तु-स्थिति-निर्माण का प्रयास कर रहे हैं। जनता की प्राथमिक इकाई में उनके अपने संकल्प तथा सम्मति के आधार पर समाज-व्यवस्था की नींव डाल रहे हैं। सम्मति-शक्ति की स्थापना से जब अधिकारवाद का निराकरण होगा, तभी समाज की वर्तमान मनःस्थिति और वस्तुस्थिति की एकरूपता सधेगी।

प्रश्न : आज देश में चारों तरफ अशान्ति की आग भड़क रही है। कोई किसीके अनुशासन में नहीं है। सिर्फ भारत में ही नहीं, हर देश में व्यापक कशमकश चल रही है, ऐसी स्थिति में आप दंड-शक्ति के निराकरण की बात कर रहे हैं। वर्तमान जगत् में जब दंड-शक्ति का मूल आधार सैनिक-शक्ति इतनी बढ़ी हुई है, तब भी भिन्न-भिन्न सरकारें अपनी-अपनी जनता को नियंत्रण में नहीं रख पा रही है। जगह-जगह विस्फोट हो रहा है। इस स्थिति में राज्य-शक्ति को अधिक-से-अधिक समर्थन की आवश्यकता है। ऐसा न करके आप लोग उसकी प्रतिष्ठा कम करने का प्रयास करते हैं। क्या यह प्रयास देश को अराजकता की दलदल में नहीं फँसा देगा?

उत्तर : आपका कहना सही है कि आज संसार के भिन्न-भिन्न राज्यों की सैनिक-शक्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है। फिर भी राज्य अपनी ही जनता को नियंत्रित नहीं रख पाते हैं। लेकिन इस रोग का इलाज राज्य-शक्ति को अधिक मजबूत करना नहीं है। समझना होगा कि जब पहले के राज्यों

में जिनके पास दंड-शक्ति कमजोर थी, सरकारें जनता को अधिक नियंत्रित रखती थीं। आज की उद्दंडता का कारण कुछ दूसरा ही है। राज्य अधिक शक्तिशाली होने पर भी अगर नियंत्रण करने में असमर्थ है तो समझना होगा कि अब समाज के सन्तुलन की रक्षा करनेवाली शक्ति के रूप में राज्य-पद्धति ही कुंठित होकर असमर्थ हो गयी है। अतः अब इसके लिए नयी पद्धति की खोज करनी होगी।

अब आपको विचार करना होगा कि इस युग में ऐसी कौन-सी परिस्थिति पैदा हो गयी, जिसके कारण समाज में इतना विस्फोट फैल रहा है? आप जानते हैं कि दुनिया निरन्तर प्रगति करती जा रही है। पहले जमाने में जब राजतंत्र चलता था तो जनता ने अपने संरक्षण और नियंत्रण के लिए राजदंड को तारक शक्ति के रूप में मान्य करवाया था। राजा के लिए **'महती देवता राजा नररूपेण तिष्ठति'** की संज्ञा रखी थी। उस समय लोग मानते थे कि समाज के संतुलन के लिए उसके सिर पर दंड का अधिकार निरंतर लटका रहना चाहिए। लेकिन ज्ञान-विज्ञान और लोक-चेतना के साथ-साथ यह मान्यता बदली है। जनता में आत्म-प्रत्यय का विकास इतना हुआ कि मनुष्य मानने लगा कि अब उसके प्रभाव के लिए राजदंड या राजा नहीं चाहिए। उसमें स्वतंत्रता की भूख जगी। परिणामस्वरूप दुनिया में लोकतंत्र का नारा बुलन्द हुआ। तब से आज तक स्वतंत्रता की यह माँग बढ़ती ही रही। लोकतंत्र ने साम्य, मैत्री और स्वतंत्रता का

उद्घोष किया और बाद में समाजवाद ने तो शासनहीन समाज की आकांक्षा निर्माण की। इस तरह आज विश्व की जनता की मनःस्थिति पूर्ण स्वतंत्रता की बन गयी।

दूसरी तरफ लोकतंत्र का तंत्र कल्याणकारी राज्यवाद के नाम से दिन-प्रतिदिन जन-जीवन के अंग-प्रत्यंग पर अधिकार-विस्तार करता जा रहा है, और समाजवादी राज्य ने लोक-जीवन पर सम्पूर्ण अधिसत्ता का अधिष्ठान कर लिया है।

इस तरह जब समाजतंत्र पूर्ण अधिकारवादी बना हुआ है और लोक स्वतंत्रता की ओर बढ़ रहा है, तो लोक की मनःस्थिति और समाज की वस्तुस्थिति में उत्कट अन्तर्विरोध पैदा हो गया है।

अधिकार का स्वधर्म स्वतंत्रता-विरोधी है, और स्वतंत्रता का स्वधर्म अधिकार को इनकार करने का होता है। आज आप जो कशमकश देख रहे हैं, वह इसी अन्तर्विरोध का परिणाम है। इस परिस्थिति का निराकरण राज्य के अधिकार को बढ़ाकर नहीं हो सकता। बल्कि उसको घटाकर ही हो सकता है। अगर वस्तुस्थिति और मनःस्थिति मे विसंगति है, तो वस्तु-स्थिति को मनःस्थिति के अनुकूल बनाकर ही उसे मिटाया जा सकता है। आप ग्रामदान से स्वतंत्र लोक-संकल्प तथा स्वतंत्र व्यवस्था की परिपाटी डालकर अधिकारवाद के निराकरण की ओर बढ़ रहे हैं। जब समाज सम्मति के आधार पर संगठित होगा, तभी लोकतंत्र और समाजवाद के उद्घोष के अनुसार मनुष्य अधिकार-मुक्त यानी शासन-मुक्त होगा। ऐसा होने

पर ही समाज में मनःस्थिति और परिस्थिति में संगति स्थापित होगी और वर्तमान कशमकश समाप्त हो जायगी।

प्रश्न : आप कहते हैं कि ग्रामदान में गाँव की जमीन की मालिकी ग्रामसभा में न्यस्त हो जायगी, तो दो किसानों की जमीन के बीच की मेड़ यानी मेरा-तेरा की निशानी मिट जायगी। यह तो कानून बनाकर आसानी से किया जा सकता है। फिर ग्रामदान की इतनी लम्बी प्रक्रिया की आवश्यकता क्या है ?

उत्तर : मैंने कहा है कि जनता की मनःस्थिति अधिकारवाद की विरोधी है। कानून की प्रक्रिया में निर्णय अधिकारी करता है, और जनता को उसे स्वीकार करना पड़ता है। अगर स्वीकार न करे तो दमन के जरिये स्वीकार कराया जाता है। ग्रामदान की प्रक्रिया में जनता स्वतंत्र रूप से अपने संकल्प द्वारा निर्णय करती है, और अधिकारी उसे स्वीकार करता है। अर्थात् परिवर्तन के इस निर्णय में अधिकारी का अधिकार समाप्त हो जाता है। अतः जनता में स्वतंत्र अभिक्रम तथा स्वतंत्र संचालन की चेतना का विकास होता है। इस तरह धीरे-धीरे समाज से अधिकारवाद का निराकरण होता जायगा तो वर्तमान समाज की आकांक्षा पूरी होगी।

●

लोक-शिक्षक समाज का संकल्प-पत्र

मुझे ग्रामदान की प्रक्रिया द्वारा ग्राम-स्वराज्य की स्थापना का विचार मान्य है। मैं मानता हूँ कि वर्तमान युग में समाज-परिवर्तन की गति, शक्ति तथा धृति-शक्ति सम्मति ही हो सकती है। अतः ग्राम-स्वराज्य की सफलता के लिए उद्बुद्ध नागरिकों में (के लिए) लोक-शिक्षण का विकास होना चाहिए। तदनुसार मैं ग्राम-स्वराज्य के लोक-शिक्षण के लिए अपनी बुद्धि तथा शक्ति समाज को समर्पित करता हूँ।

मैं आंशिक कार्य तथा नित्य चिंतन की जिम्मेवारी स्वेच्छा से लेता हूँ। अतः हर दिन कुछ समय या हर सप्ताह एक दिन अथवा हर माह कम-से-कम चार दिन इस कार्य में लगा रहूँगा।

दिनांक हस्ताक्षर——————

नाम——————————————

पता——————————————

——————————————

——————————————

भूदान-ग्रामदान-साहित्य

पुस्तक	मूल्य
भूदान-गंगा (आठ खण्ड) प्रत्येक	१.५०
ग्रामदान	१.५०
प्रखण्डदान	१.००
सुलभ ग्रामदान	०.८०
ग्रामदान-प्रश्नोत्तरी	०.५०
ग्राम-पंचायत	०.७५
ग्राम-पंचायत और ग्रामदान	०.३५
एक बनो और नेक बनो	०.३०
ग्रामदान : शंका-समाधान	१.००
क्रान्ति का अगला कदम	०.२५
साम्ययोग की राह पर	०.२५
देश की समस्याएँ और ग्रामदान	०.८०
तूफान-यात्रा	३.००
गाँव जाग उठा	२.००
विनोबा की पाकिस्तान-यात्रा	२.००
खादी-कार्यकर्ता और ग्रामदान	०.३०
गाँव का गोकुल	०.२५
धरती के गीत	०.२५
ग्राम-स्वावलम्बन की ओर	०.२५
ग्रामदान क्या है ?	०.३५
ग्रामदान-मार्गदर्शिका	०.५०
भूदान-पोथी	०.२५
पावन प्रसंग	०.५०
ग्राम-स्वराज्य का त्रिविध कार्यक्रम	०.५०
ग्राम-स्वराज्य : क्यों और कैसे ?	०.५६
मानवीय क्रान्ति	०.२५
ग्रामदान क्यों ?	१.२५
कोरापुट में ग्राम-विकास का प्रयोग	२.००
चलो, चलें मंगरौठ	०.७५
तमिलनाड के ग्रामदान	२.००
कोरापुट के ग्रामदान	२.००
गुजरात के ग्रामदान	२.००
आन्ध्र के ग्रामदान	१.००
मध्यप्रदेश का ग्रामदान : मोहझरी	१.००
अकिली की कहानी	०.६०
ग्राम-सभा : स्वरूप और संगठन	०.४०
गाँव बचायें, देश बनायें	०.४०
सुनो कहानी मनफर की	१.००
बिहार में ग्रामदान-तूफान	०.५०
समग्र ग्राम-सेवा की ओर (तीन खण्ड)	६.००
गाँव आन्दोलन क्यों ?	२.५०
ग्राम-सुधार की एक योजना	०.७५
मेरा गाँव	२.५०
सहजीवी गाँव : इजराइल का एक प्रयोग	३.००
धरतीमाता की गोद में	०.७५
समग्र नयी तालीम	१.२५
बुनियादी शिक्षा-पद्धति	०.६०

सर्व सेवा संघ प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी